ध्यान

(रामकृष्ण संघ के संन्यासियों द्वारा विवेचन)

अनुवादक

स्वामी ब्रह्मेशानन्द

रामकृष्ण मठ

नागपुर

प्रस्तावना

(प्रथम संस्करण)

Meditation (मेडिटेशन) पुस्तक का 'ध्यान' यह हिन्दी अनुवाद पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है। यह पुस्तक सर्वप्रथम रामकृष्ण वेदान्त केन्द्र, लन्दन द्वारा प्रकाशित की गयी थी। तदनन्तर इसका भारतीय संस्करण रामकृष्ण मठ, मद्रास (चेनै) ने प्रकाशित किया। यह पुस्तक उसी भारतीय संस्करण का हिन्दी अनुवाद है।

रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासियों द्वारा प्रमुखत: संस्कृत न जाननेवाले विदेशी साधकों एवं जिज्ञासुओं के लिए लिखे गये लेखों का संकलन होने के कारण इसमें योग तथा वेदान्त के ग्रन्थों में सामान्यत: पाये जानेवाले पारिभाषिक शब्दों का अभाव है। अत: यह अधिकांश लोगों द्वारा सरलता से पढ़ा जा सकेगा। आध्यात्मिक विकास तथा मनुष्य जीवन की सफलता के लिए ध्यान की साधना आवश्यक है। इस पुस्तक में चञ्चल मन को शान्त कर उसे अन्तर्यामी परमात्मा पर एकाग्र करने हेतु अनेक उपयोगी निर्देश सरल एवं सुललित भाषा में दिये गये हैं। ध्यानाभ्यास के द्वारा अन्तर्मुखी मन एकाग्र होकर हम सभी शारीरिक एवं मानसिक उपाधियों से रहित विशुद्ध चैतन्य का साक्षात्कार कर सकते हैं। स्वामी ब्रह्मेशानन्द ने प्राञ्जल भाषा में इसका हिन्दी अनुवाद किया है इसके लिए हम उन्हें हृदय से धन्यवाद देते हैं। हमें विश्वास है कि हिन्दी भाषी भारतीय पाठकों के लिए भी यह पुस्तक अत्यन्त साधनोपयोगी सिद्ध होगी।

नागपुर
दिनांक : १६.३.२००२ — प्रकाशक
श्रीरामकृष्ण जयन्ती

अंग्रेजी ग्रन्थ की प्रकाशकीय प्रस्तावना

इस तृतीय संस्करण में उन आठ नये अध्यायों को सम्मिलित किया गया है जो अनेक साधकों को ध्यान के अभ्यास में सहायक सिद्ध हुए हैं।

इस ग्रन्थ में रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासियों ने उपनिषदोक्त ध्यान पद्धति का विवरण प्रदान किया है। जैसा कि वे कहते हैं, ध्यान इतना आसान नहीं है जितना कि कुछ प्राच्य गुरु बताना चाहते हैं और वह इतना कठिन भी नहीं है जितना पाश्चात्य निवासी कभी-कभी समझ लेते हैं।

अधिकांश उपदेश सर्वप्रथम प्रवचनों एवं अनौपचारिक कक्षाओं के रूप में दिये गये थे। पाठक स्वयं पाएँगे कि उनमें अन्तरंग साधकों को प्रदान किये गये सीधे निर्देशों की झलक विद्यमान है। ये अन्तेवासी साधक श्रोताओं को सम्बोधित किये गये हैं। हमने उस अन्तरंग पद्धति को बनाये रखा है।

– रामकृष्ण वेदान्त केन्द्र

बोर्न एण्ड

बंकिगहमशायर

अनुक्रमणिका

ध्यान

भूमिका

ध्यान विषयक कतिपय बातें

स्वामी भव्यानन्द

ध्यान के सिद्धान्त एवं साधना का विस्तृत विवेचन प्रारम्भ करने के पूर्व हमें उसकी पष्ठभूमि और सन्दर्भ को समझ लेना चाहिए। ध्यान में सफलता का शान्त जीवन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। सफलतापूर्वक ध्यान के लिए मन का शान्त होना आवश्यक है और मन की शान्ति के लिए दैनन्दिन जीवन की समग्र गतिविधियाँ शान्तिपूर्वक सम्पन्न की जानी चाहिए।

कर्म में आराधना का भाव ध्यान में बहुत सहायक होता है। हम चाहे किसी भी कर्म में क्यों न लगे हों, हमें सर्वदा यह भाव बनाये रखना चाहिए कि हम भगवान् के सान्निध्य में हैं। तुम कह सकते हो कि ऐसे कार्यों के बीच जहाँ पूरा मनोनिवेश आवश्यक है, यह कठिन है। यह बात मान भी लें तो भी यह भी सत्य है कि ऐसे मनोनिवेश वाले कार्य के समाप्त होते ही हम अपना मन भगवान् में लगा सकते हैं। और यदि हम ईमानदारी से अवलोकन करें तो पायेंगे कि कई कार्य ऐसे हैं जिनमें पूरा मनोनिवेश आवश्यक नहीं होता फिर भी हम उनमें डूब जाते हैं और अपना बहुत सा समय व्यर्थ गँवा देते हैं। सोने के ठीक पहले और बाद का काल एवं सफ़ाई, खाना परोसना, देह की देखभाल आदि शारीरिक कर्मों के काल को प्रयत्नपूर्वक सचेतन प्रार्थना और भगवच्चिन्तन का रूप दिया जा सकता है। दैनन्दिन

क्रियाकलापों के बीच-बीच में भगवत् स्मरण से मन में प्रवेश करने का प्रयास कर रहे अनेक विक्षेपकारी विचारों को रोकने में सहायता मिलती है। बहुत सी निरर्थक और हानिकारक वासनाएँ मन में उठती रहती हैं जिन्हें इस प्रकार आसानी से प्रभावहीन किया जा सकता है।

इन उपायों से मन ध्यान-प्रवण हो जाता है। फलत: निर्धारित समय पर ध्यान की साधना के लिए बैठने पर मन आसानी से शान्त और एकाग्र हो जाता है। यही नहीं, अपितु इन्द्रियों के विषयों के रूप में आ रहे बाह्य विक्षेपों और अवचेतन मन से उठ रहे आंतरिक विक्षेपों को इस रीति से दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार एक नियमित, प्रयत्नपूर्वक सुनियोजित दिनचर्या भी हमारे आन्तरिक जीवन को श्रेष्ठतर बनाती है। रेगिस्तान में तपस्यारत पुरातन ईसाई सन्तों में से एक का इस विषय में निम्नोक्त मन्तव्य है : ''अहितकर विचारों पर विजय पाने का सामर्थ्य, कलाओं में सर्वश्रेष्ठ कला और विज्ञानों में श्रेष्ठतम विज्ञान है। इसका उपाय और उपचार है भगवान् की सहायता से उनके उदित होने के आभास पर नजर रखना और सदा पवित्र चिन्तन करना। यह ठीक उसी प्रकार करना चाहिए जिस प्रकार हम अत्यन्त सजगतापूर्वक अपने चर्मचक्षुओं की किसी भी आघातकारी पदार्थ से रक्षा करते हैं और धूल के एक कण को भी उसके निकट नहीं आने देते।'' भगवान् का एकाग्रतापूर्वक ध्यान करने के लिए अपनी दैनन्दिन चिन्तन की आदत पर मन, वचन एवं कर्म पर तथा हृदय की इच्छा वासनाओं और भावनाओं पर सतत् तीक्ष्ण दृष्टि रखना आवश्यक है। यही बात श्रीकृष्ण भगवद्गीता के छठे अध्याय में हमें इस प्रकार बताते हैं :

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानस:।
शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।६-१५।।
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमश्नत:।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।६-१६।।
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु:खहा।।६-१७।।

अर्थात्, "इस प्रकार मन को निरन्तर परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ स्वाधीन मन वाला योगी मेरे में स्थितिरूप परमानन्द पराकाष्ठा वाली शान्ति को प्राप्त होता है।

परंतु हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खाने वाले से सिद्ध होता है और न बिल्कुल न खाने वाले का तथा न अतिशयन करने के स्वभाव वाले का और न अत्यंत जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

यह दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार और विहार करने वाले का तथा कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का तथा यथायोग्य शयन करने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है।"

जिन लोगों ने ध्यान का अभ्यास किया है वे निश्चय ही जानते हैं कि इसमें कितनी मेहनत करनी पड़ती है। एक प्रत्यय से दूसरे प्रत्यय पर कूदना मन का स्वभाव है और उसे नियंत्रित कर मनोवाञ्छित स्थान पर रखे रहना सचमुच कठिन है। हम मानें या न मानें, मन की स्थिति बहुत हद तक देह की स्थिति पर निर्भर करती हैं। जब तक देह स्वस्थ और सक्षम नहीं होगी तब तक मन को शान्त करना लगभग असम्भव होगा, इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

उपर्युक्त श्लोक में हमारी स्थूल देह को स्वस्थ रखने के नियम बताये गये हैं। देह के लिए आहार आवश्यक है किन्तु यदि आहार बहुत अधिक मात्रा में लिया जाय या वह बहुत गरिष्ठ हो तो हमारा रक्त प्रवाह और प्राण सञ्चार पेट में ही होता रहेगा। उदर में रक्त के जमाव से मस्तिष्क में कम रक्त जाता है और वह जड़ हो जाता है। अधिक खाने से अध्यवसाय पूर्वक मानसिक प्रयास नहीं हो सकता। ये दोनों एक साथ नहीं चल सकते। दूसरी ओर भूखा आदमी ध्यान नहीं कर सकता और यदि मस्तिष्क पुष्ट न हो तो वह आध्यात्मिक जीवन के लिए आवश्यक सूक्ष्म चिन्तन में कभी समर्थ नहीं हो सकेगा। स्वामी विवेकानन्द का कथन है, "भूखे पेट धर्म नहीं होता। पहले भोजन, उसके बाद धर्म। भगवान् क्षुधार्थ के पास अन्न के रूप में आता है।" भगवान् बुद्ध ने कठोर तपस्या के उपरान्त आहार के विषय में

मध्यम मार्ग को स्वीकार किया और उसका उपदेश दिया था। इसी प्रकार अत्यधिक निद्रापरायणता से व्यक्ति आलसी और प्रमादी हो जाता है। इसके विपरीत अत्यधिक जागरण से सारे दिन नींद आती रहती है एवं कार्य में बाधा उत्पन्न होती है। उससे व्यक्ति चिड़चिड़ा हो जाता है तथा दूसरों के लिए क्षोभ का कारण बन जाता है। निश्चित और निर्धारित काल तक सोने से मस्तिष्क को विश्राम भी मिलता है तथा वह तरोताजा हो जाता है। युक्त आहार व निद्रा ही नहीं अपितु युक्त कर्म और मनोरंजन का भी हमारे दैनंदिन जीवन में महत्त्व है। वे ध्यान में, जिसकी सहायता से हम आध्यात्मिक प्रगति करना चाहते हैं, विशेष सहायक होते हैं। हमें इन सभी का लाभ उठाना चाहिए और साथ ही साथ बाधाओं से बचना चाहिए।

देह और मन को इस तरह तैयार करके ध्यान में बैठने वाले व्यक्ति का मन शीघ्र ही शान्त और एकाग्र हो जाता है। विक्षेपरहित ध्यान आसान और स्वाभाविक हो जाता है, जैसा कि गीता में अन्यत्र कहा गया है, "यथा दीपो निवातस्थो।" यह दृष्टान्त बड़ा सार्थक है। भगवच्चिन्तन में निरत मन स्वभावत: ज्योतिर्मय हो जाता है। इस प्रकाश में सर्वव्यापी परमात्म सत्ता का दर्शन होता है। यह ज्ञानालोक है – स्थिर, उज्ज्वल, एकाग्र।

ध्याननिष्ठ जीवन में प्रार्थना और जप का क्या स्थान है? भगवान् में विश्वास रखने वालों के लिए मन की एकाग्रता और भगवद्भाव की प्राप्ति में ये दोनों बड़ी सहायता करते हैं। प्रार्थना सदा परम्परागत रूप में या औपचारिक ही हो ऐसी बात नहीं है। परमात्मा के साथ एक परम विश्वस्त मित्र की तरह हृदय खोल कर स्पष्ट और सीधी बातचीत की जा सकती है। भगवान् के साथ बिना संकोच और बाधा के वार्तालाप करना चाहिए। भगवान् के प्रति की गई प्रार्थना सीधे हृदय से निकलनी चाहिए।

ईसा मसीह ने अपने शिष्यों से सदा-सर्वदा प्रार्थना करने को कहा था। वे स्वयं भी सतत् प्रार्थना करते रहते थे; सदा उसी भाव में रहते थे। हम यह बात प्राय: भूल जाते हैं। कोई भी आध्यात्मप्रवण व्यक्ति प्रार्थना को केवल किसी निश्चित समय और सीमित समय के लिए किया जाने वाला

काम नहीं मान सकता। एक भगवद्भक्त का चलना-फिरना, उठना-बैठना, खाना-पीना, खेलना-कूदना आदि कर्म एवं क्रियाकलाप किसी न किसी रूप में प्रार्थना स्वरूप ही होते हैं। ऐसा व्यक्ति ब्रदर लारेन्स की तरह भगवान् के सान्निध्य में जीवनयापन करता है और उसके समस्त कर्म परमात्मा की आराधना और प्रार्थना के रूप में होते हैं। ईसाई धर्म में कई शब्दों का उपयोग मंत्रों के रूप में जप के लिए होता है। ईसा मसीह का नाम 'जीसस' भी एक मंत्र है। ईस्टर्न चर्च (ईसाई धर्म की एक शाखा) की प्रचलित प्रार्थना "Lord Jesus Christ have mercy on me", (प्रभु ईसा मसीह, मुझ पर कृपा करो) एक अन्य जपयोग्य मंत्र है। सन्त फ्रांसिस सारी रात बैठे-बैठे भाव विभोर हो, My God and my all, My God and my all (प्रभु मेरे सर्वस्व, प्रभु मेरे सर्वस्व) का जप किया करते थे। ईसा मसीह सर्वदा अपने स्वर्गीय पिता का स्मरण करते रहते थे। वे भगवान् का नाम, "अब्बा" – याने पिता – का उच्चारण किये बिना किसी कार्य का प्रारम्भ नहीं करते थे। गेथ्सेमेन की पहाड़ी पर "अब्बा" ही उनकी अन्तिम प्रार्थना थी और सूली पर यही उनके जीवन का अन्तिम शब्द था। इसके अतिरिक्त सभी साधकों को निर्धारित समय पर मंत्रजप का अभ्यास विशेष रूप से करना चाहिए।

ध्यान की सभी प्रणालियों में जप और प्रार्थना का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। तथापि जैसा कि महर्षि पतञ्जलि कहते हैं, (पातञ्जल योग सूत्र १.३६) यह भी सत्य है कि कुछ लोग जप की सहायता के बिना भी परमात्मा का ध्यान कर सकते हैं। लेकिन भगवन्नाम का जप अधिकांश लोगों के लिए अधिक उपयुक्त साधना-पद्धति प्रतीत होती है। ऐसे साधक ध्यान की प्रारंभिक तैयारी के बाद हल्के से उच्चारण करते हुए (उपांशु) जप कर सकते हैं। बाद में यही परिपक्व होकर निःशब्द मानसिक जप में परिणत हो जायेगा। निरन्तर जप करने से मन शान्त और एकाग्र हो जाता है तथा अन्ततः भगवान् के सान्निध्य का अनुभव होने लगता है। इस अवस्था में परमात्म-सत्ता का बोध बना रहता है; ध्यान अथवा जप जैसे किसी प्रयास की आवश्यकता

नहीं होती। केवल भगवत् सान्निध्य की शान्ति और आनन्द का अनुभव होता रहता है। तब देश और काल का बोध नहीं रहता। इस तरह हम देखते हैं कि जप की सहायता से कैसी गहरी आध्यात्मिक अनुभूति हो सकती है। श्रीकृष्ण कहते हैं (श्रीमद्भगवद्गीता) "यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि" – अर्थात्, "यज्ञों में मैं जपयज्ञ हूँ।"

वेदान्त-साधन-परम्परा और योगशास्त्र में भी जप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मंत्र भगवद् साक्षात्कार अथवा दिव्य दर्शन के फलस्वरूप प्राप्त भगवान् का एक नाम विशेष होता है। ऐसे अनुभूतिसम्पन्न ऋषि मंत्रद्रष्टा कहलाते हैं। इन मंत्रों को प्राप्त कर वे उनका अपने जीवन में सफलतापूर्वक उपयोग करते हैं और उन्हें अपने शिष्यों को प्रदान करते हैं। ये शिष्य बारी बारी से आने वाली पीढ़ियों को मंत्र देते जाते हैं। इस प्रकार दीर्घकाल तक प्रयोग के फलस्वरूप ये मंत्र अत्यन्त शक्तिशाली हो जाते हैं। ऐसे प्रभावशाली मंत्रों का उपयोग अतीत और वर्तमानकालीन साधक गहरी अनुभूतियों हेतु करते आये हैं। अत: इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि वे पवित्र माने जायें। किसी व्यक्ति के टेलीफोन नंबर की तरह इनके द्वारा भगवान् के साथ सीधा संपर्क स्थापित हो जाता है। इस जप साधना का आश्रय लेने वाले साधकों के जीवन में इसके पर्याप्त प्रमाण प्राप्त होते हैं। समर्थ गुरु द्वारा अधिकारी शिष्य को जब मंत्र प्रदान किया जाता है तब एक शक्ति-विशेष शिष्य में आती है। यह शक्ति प्रभावशाली, स्पष्टत: बोधगम्य, व्यक्तिगत और गोपनीय होते हुए भी रहस्यमय नहीं होती।

प्रार्थना मन को जप और ध्यान के लिए तैयार करने में बड़ी सहायक होती है। उदात्त, धार्मिक सद्ग्रन्थों, शास्त्रों एवं स्तोत्रों का पठन, आवृत्ति, चिन्तन, मनन सब प्रार्थना के अन्तर्गत आ जाते हैं। ये स्तुति, स्तोत्र, प्रार्थनादि सभी धर्म साहित्य के अभिन्न अंग के रूप में पाये जाते हैं। साधक की आध्यात्मिक प्रगति के साथ ही उसमें स्वाभाविक रूप से आराधना और प्रार्थना के एक भाव का विकास होता है, भले ही वह सैद्धान्तिक रूप से अद्वैतवादी हो। जब तक मानव को अपनी मानवीय दुर्बलताओं का बोध है, तब तक

वह एक सगुण-साकार ईश्वर की आराधना और प्रार्थना किये बिना नहीं रह सकता। बहुत कम लोग सर्वदा स्वयं को सबल और स्वतंत्र अनुभव कर सकते हैं। भगवान् ही एकमात्र अचूक शक्ति है, जिसपर हम कदम-कदम पर भरोसा कर सकते हैं। दुर्बल के लिए एक भगवान् ही सदा प्रस्तुत शक्ति का स्रोत है। कठिन परीक्षाओं और प्रबल विपत्तियों के क्षणों में, जिनसे कोई भी व्यक्ति पूरी तरह बच नहीं सकता, भगवान् ही एकमात्र सत्ता है जिसका हम आश्रय ले सकते हैं और लेना चाहिए।

परन्तु अपने सुखमय दिनों में भी हमें भगवान् की भक्ति और आराधना करनी चाहिए। वह हमारे सुख का भी साथी है। जैसा कि एक सन्त ने गाया है, "हे माते! मैं तुम्हें भूल जाता हूँ लेकिन तुम मुझे कभी नहीं बिसरातीं।"

तात्पर्य यह है कि बहिर्मुखी प्रवृत्ति के प्रबल अभ्यस्त मन को शान्त करने हेतु नित्य, निरन्तर, सुनियोजित अभ्यास आवश्यक है। इस बहिर्मुखी वृत्ति को रोक पाना कठिन होते हुए भी हमें असफलताओं के बावजूद प्रयत्न करते जाना है। साहसी और अध्यवसायी साधकों को सफलता मिलती है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "पवित्रता, धैर्य, और अध्यवसाय से ही सफलता मिलती है।" "सतत् जागरूकता स्वाधीनता का मूल्य है।" अनुभूति की गहराई रूपी सकारात्मक प्रगति पर प्रमादरहित नियमित साधना द्वारा अपनी पकड़ बनाये रखना हमारा उद्देश्य होना चाहिए। साधकों के रूप में हममें से अधिकांश की यह मान्यता है कि आध्यात्मिक साधना हमारे आन्तरिक जीवन को समृद्ध करती हैं और उसे गहराई प्रदान करती है। हमने स्वाध्याय, ध्यान और उपासनादि के लिए अपनी दिनचर्या में समय निर्धारित कर रखे हैं। लेकिन हमें बीच-बीच में अपनी प्रगति का मूल्यांकन करते रहना चाहिए ताकि हम क्या हैं और क्या होना चाहते हैं के बीच का अन्तर जान सकें। उसके बाद हमें और अधिक परिश्रम करना चाहिए। हमें अपने मन पर सतर्क दृष्टि रखनी चाहिए और चित्तवृत्तियों को सही दिशा प्रदान करने का तब तक प्रयत्न करते रहना चाहिए जब तक इसका अभ्यास न हो जाये और हम अपने सामान्य क्रियाकलापों के बीच ऐसा कर सकें और इसमें आनन्द का अनुभव

कर सकें। इस तरह हम अपने आन्तरिक जीवन में एक ऐसी रचनात्मक स्थिति प्राप्त कर सकते हैं जहाँ सभी कुछ हमारे लिए आध्यात्मिक दृष्टि से लाभप्रद होता दिखाई देने लगे। किसी न किसी प्रकार हमारी भेंट उचित लोगों के साथ हो जाती है, हमें उपयुक्त कार्य प्राप्त हो जाता है और हमें तीव्र साधना के लिए समय मिल जाता है। तब मन की एकाग्रता स्वाभाविक हो जाती है।

वेदान्त दर्शन अद्वैत सिद्धान्त में पर्यवसित हो जाता है लेकिन वेदों में सगुण-साकार ईश्वर की मान्यता के भी पर्याप्त प्रमाण प्राप्त होते हैं। पुराणों एवं परवर्ती धर्म-साहित्य में भक्तियोग का पूर्ण विकास हुआ है, जिसे भगवदवतार के रूप में स्वीकृत महापुरुषों द्वारा प्रोत्साहन मिला है। एक हिन्दू का सभी विषयों में प्रमुखत: आध्यात्मिक दृष्टिकोण रहता है और वह तदनुरूप व्यवहार करता है। अत: वह भक्तियोग को भी निराकार अनन्त के स्तर तक उन्नीत कर उसे सर्वग्राही बना लेता है। इसके फलस्वरूप वह भगवद्प्रेम और आत्मा की महिमा दोनों का गान समान तन्मयता से कर सकता है। अमृतबिन्दु उपनिषद् में कहा गया है,

सर्वभूताधिवासं यद्भूतेषु वसत्यपि।
सर्वानुग्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेव।।२२।।

अर्थात्, "जिसमें समस्त प्राणी निवास करते है तथा जो सभी के आश्रय के रूप में समस्त प्राणियों में वास करता है वह वासुदेव मैं ही हूँ।" हिन्दुओं की प्रार्थनाएँ प्राय: मधुर और भक्तिपूर्ण होती हैं। प्रार्थना, भजन एवं प्रतीकों के उचित सदुपयोग द्वारा साधक उच्चतम भावावस्था, यहाँ तक कि समाधि भी प्राप्त कर सकता है। हिन्दू धर्म-परम्परा में इसके पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। पुन: गीता के छठे अध्याय में हम पाते हैं :

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।२०।।
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वत:।।२१।।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते।।२२।।
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।२३।।

अर्थात्, "जिस अवस्था में योग के अभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त उपराम हो जाता है, जिस अवस्था में परमेश्वर के ध्यान से शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा परमात्मा को साक्षात् करता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही सन्तुष्ट होता है।।२०।। तथा इन्द्रियों से अतीत शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है उसको जिस अवस्था में अनुभव करता है; जिस अवस्था में स्थित हुआ योगी भगवत्स्वरूप से चलायमान नहीं होता है।।२१।। परमेश्वर की प्राप्तिरूप जिस लाभ को प्राप्त होकर उससे अधिक अन्य कुछ भी लाभ नहीं मानता; जिसमें स्थित हुआ बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता।।२२।। और जो दुःखरूप संसार के संयोग से रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिए; वह योग न उकताए हुये चित्त से निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है।।२३।।

इस सन्दर्भ में मुझे श्रीचैतन्य के शिष्यों के काल की एक कहानी याद आ गई। एक गरीब ब्राह्मण था जिसकी पत्नी परिवार के लिए अधिक धन लाने हेतु उसे निरंतर तंग करती रहती थी। वह अच्छे कपड़े, अधिक भोजन, छत की मरम्मत आदि की माँग करती रहती थी। लेकिन यह भला आदमी आमदनी बढ़ाने का कोई भी उपाय नहीं ढूँढ पा रहा था। एक दिन एक प्रसिद्ध सन्त उनके गाँव में आये और निकट ही डेरा डाला, उनके पास लोग किसी न किसी हेतु से दर्शन करने जा रहे हैं, यह देख उसकी पत्नी ने उसे उकसाते हुए कहा, "सन्त के पास जाकर कुछ माँगते क्यों नहीं ताकि हमारी हालत सुधरे? उनके पास कोई सिद्धियाँ होंगी। लोग उनके पास जा रहे हैं....।"

"अरे, मैं ऐसा कैसे कर सकता हूँ?" लज्जा से सिर झुकाते हुए

उसके पति ने कहा, "साधु के पास तो ज्ञान, भक्ति की प्राप्ति के लिए जाना चाहिए।" लेकिन उसकी पत्नी ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। अन्त में एक दिन ब्राह्मण का स्वाभिमान कुछ कम हो गया और वह साधु बाबा के पास जाकर बैठ गया लेकिन कुछ समय तक बोल नहीं सका।

अन्ततः सन्त ने पूछा, "अच्छा भाई, तुम क्यों आये हो? तुम्हारी भी तो कोई मनोकामना होगी।" ब्राह्मण ने उत्तर दिया, प्रभु, "मेरी पत्नी का विश्वास है कि आप चमत्कार कर सकते हैं। क्या आपके पास वह पारस पत्थर है जिसके छूने से सब वस्तुएँ सोने की हो जाती हैं? मैं उसी के लिए आपके पास आया हूँ।" यह कह कर उसने लज्जा से अपना सिर झुका लिया।

सन्त ने उत्तर दिया, "ओहो! क्या इतनी सी बात है? अरे मैंने कल ही ऐसा एक पत्थर उस नाले में फेंका है। खोजने से शायद तुम्हें मिल जाये।" गरीब ब्राह्मण ने खोजा तो उसे विचित्र आकार का एक रंगीन पत्थर मिला और उसका अनुमान ठीक निकला कि वह पारस पत्थर ही था। पुनः सन्त के निकट बैठकर वह उस पत्थर को कुतूहलपूर्वक देखता रहा। फिर उसने सन्त की ओर देखा और आश्चर्यान्वित होकर पूछा, "आपने इसे फेंक दिया था। इसका अर्थ है कि आपके पास इससे भी अधिक मूल्यवान कुछ है। कृपया मुझे वही देवें।" सन्त ने उत्तर दिया, "हाँ, सचमुच! और वह है भगवान् का नाम। मैं तुम्हें वह दूँगा। लेकिन तुम्हारी पत्नी की अभी भी बहुत सी इच्छाएँ हैं। वह उसके (ईश्वरानुभूति) के लिए तैयार नहीं है। इसलिए यह पारस पत्थर उसे दे आओ।" ब्राह्मण ने ऐसा ही किया और गृहत्याग कर परमसंपद् की खोज में लग गया।

"दुःख-संयोग-वियोग" – इसका वास्तविक अर्थ क्या है? क्या यह कि योगी निर्मम और उदासीन होता है? नहीं। वह दुःख का अनुभव इसलिए नहीं करता कि उसका मन कहीं और निविष्ट रहता है। बहिर्जगत और अपने ही भीतर के अन्तर्जगत याने मन के संवेदनों के प्रति उसकी प्रतिक्रियाएँ बहुत कुछ नियंत्रित हो गई होती हैं। उसका शुद्ध शान्त मन अपने आनन्द

स्वरूप के अवलोकन में व्यस्त रहता है। यह आनन्द बहिर्जगत से निरपेक्ष है। ये नैसर्गिक आनन्द और प्रसन्नता हैं जो अतीन्द्रिय एवं मन से परे होने के कारण स्थायी और अपरिवर्तित बने रहते हैं। इस अवस्था को निरपेक्ष आनन्द की बोधमय चेतना कहा जा सकता है। योगी के स्वरूप का यही सार है। वह आवृत्तचक्षु और अन्तर्मुखी हो जाता है, और अतिचेतन ज्ञानानन्द में प्रतिष्ठित रहता है।

वेदान्त में इसी को सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा की अपरोक्ष–अनुभूति की संज्ञा दी गई है, जो उचित ही है। अपने वास्तविक परमात्मस्वरूप की अनुभूति और आस्वादन से अधिक आनन्दप्रद और क्या हो सकता है? इस अनित्य जगत के सुख-दु:खों की वेदना से रहित परमानन्द की अनुभूति के प्रयास से अधिक महत्त्वपूर्ण और महानतर और क्या हो सकता है?

ऐसा कहा जाता है कि उस अवस्था को प्राप्त करने पर यह स्पष्ट दिखाई देगा कि इस जगत में कोई भी वस्तु प्राप्त करने या अनुसरण करने योग्य नहीं हैं। हममें अभी उस अभिज्ञता का उदय नहीं हुआ है, अत: हमें जीवन में बहुत सी वस्तुएँ और बहुत से 'हेतु' अनुसरण योग्य और प्राप्तव्य प्रतीत होते हैं। जब तक हमें ऐसा लगे, तब तक हमें अपनी खोज में लगे रहना चाहिए। लेकिन यह ध्यान रहे कि हम (ज्ञान के) निम्न स्तरों पर ही संतोष न करे लें। हमें आगे बढ़ते रहना चाहिए, जैसा कि श्रीरामकृष्ण अपने शिष्यों को प्रोत्साहित करते हुए कहा करते थे। पारस पत्थर की कहानी के सन्त की तरह धीरे-धीरे हमें भी सबसे मूल्यवान् वस्तु में अपनी आस्था स्थापित करनी चाहिए। अगर कोई पूछे, "तुम्हें ऐसा क्या मिल गया है कि तुम इन मूल्यवान वस्तुओं को फेंक रहे हो?" तो हमें इस प्रश्न का असंदिग्ध उत्तर देने में समर्थ होना चाहिए। जब तक हम पथ पर ही हैं, तब तक हम हर्ष और शोक से प्रभावित होते हैं। लेकिन संसार के स्वरूप और अपने लक्ष्य की सुस्पष्ट धारणा होने पर हम अधिक आसानी से और बहुधा वास्तविक स्थिरता प्राप्त कर सकते हैं। संघर्षरत रहते हुए भी हमें गन्तव्य का ज्ञान बना रहता है। बाद में हम ऐसी अवस्था प्राप्त कर लेते हैं, जहाँ हमें कोई

विचलित नहीं कर सकता। यही हमारा लक्ष्य होना चाहिए।

परवर्ती पृष्ठों में रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ सदस्यों ने उसी अवस्था की प्राप्ति हेतु बहुत से सुझाव तथा निर्देश दिये हैं। उनके निर्देश उनके सम्पर्क में आने वाले साधकों की समस्याओं और संघर्ष के अनुभवों पर आधारित हैं। हमें आशा है कि बढ़ती संख्या में ध्यान की साधना के प्रति आकर्षित होने वाले लोगों के लिए ये स्पष्ट उपदेश मार्गदर्शक प्रकाशस्तंभ एवं ध्रुव तारा सिद्ध होंगे।

□□□

(१)

परिपक्व-जीवन

स्वामी आदीश्वरानन्द

जीवन और उसकी समस्याएँ :

जीवन विरोधाभासों से पूर्ण है। संसार की वस्तुएँ जैसी दिखती हैं वैसी हैं नहीं। हम जो चाहते हैं, वह मिलता नहीं; जो मिलता है, वह टिकता नहीं; जो टिकता है, उसका भोग नहीं कर पाते; जिसका भोग करते हैं, वह स्थायी सन्तोष प्रदान नहीं करता; और यदि हम यह मानें भी कि प्राप्त सन्तोष स्थायी है, तो भी वह ऊब पैदा करने वाला और नीरस होता है। प्रत्येक सुख के पीछे भी भय और चिन्ता का भाव बना रहता है और यह सभी पर लागू होता है। स्वस्थ को रोग का, धनी को चोर-लुटेरों का, सुन्दर को वृद्वावस्था का, सम्भ्रान्त को अपमान का, विद्वान को प्रतिवादी का और गुणवान को निन्दा का भय लगा रहता है। मानव रोते हुए जन्म लेता है, शिकायतें करते हुए जीता है और असन्तुष्ट अवस्था में मरता है। सामान्यत: जवान आदमी आशावादी होते हैं और भविष्य के सुनहले स्वप्न देखते रहते हैं; दूसरी ओर वृद्ध लोग लंबी आयु जीकर निराशावादी हो जाते हैं और जैसा स्वामीजी ने कहा है, "वे अतीत के चिन्तन में मग्न रहते हैं।" जीवन की वेदनाएँ उसके सुखों और आशाओं की अपेक्षा कहीं अधिक होती हैं। अत: इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अधिकांश व्यक्तियों के लिए जीवन समस्याओं, विपत्तियों, संघर्षों, चिन्ताओं और निराशाओं की एक श्रृंखला

मात्र होता है। तो फिर उपाय क्या है? जीवन में सांत्वना कहाँ खोजें?

जीवन की समस्याओं का सामना न कर पाने के कारण बहुत से लोग हताश, और इसी कारण कई बार दुस्साहसी हो जाते हैं। कुछ मानते हैं कि जीवन की समस्याओं का कारण बाह्य जगत है और वे उन्हें बाह्य, भौतिक उपायों से दूर करने का प्रयास करते हैं, पर असफल ही होते हैं। कुछ लोग एक ऐसे रामराज्य के आगमन की व्यर्थ प्रतीक्षा करते रहते हैं जहाँ दु:ख नहीं होंगे; केवल सुख ही सुख होगा। कुछ अन्य लोग जीवन की समस्याओं को समाधान रहित समझते हैं और मृत्यु उपरान्त स्वर्ग में चिर सुख की बाट जोहते रहते हैं। दूसरे कुछ लोग समस्याओं को पूर्व नियोजित मानते हैं और अपने भाग्य को दोष देते हैं। अधिकांश व्यक्ति परेशानी और असहायता का अनुभव करते हैं और यह निर्धारित नहीं कर पाते कि क्या करना चाहिए। कहा जाता है कि विवाह के बारे में निर्णय कर पाने में असमर्थ एक युवक ने सुकरात से सलाह चाही। सुना है कि सुकरात ने उसे कहा था, "सुनो भाई, यदि इच्छा हो तो विवाह कर लो। अगर तुम्हारी पत्नी अच्छी होगी तो तुम्हारा जीवन सुखी होगा और यदि वह बुरी हुई तो तुम मेरी तरह एक दार्शनिक बन जाओगे।" जीवन की समस्याओं का निश्चित समाधान खोजने का प्रयत्न लौकिक अथवा धार्मिक सभी दर्शनशास्त्रों ने किया है। जहाँ एक ओर लौकिक दर्शन प्रणालियाँ मानव की सभी समस्याओं को मानव-अस्तित्व से सम्बन्धित मानकर भौतिक अथवा मनोवैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत करती हैं वहाँ परम्परागत धार्मिक मतवाद इन समस्याओं का प्राय: पारलौकिक दृष्टिकोण से अवलोकन कर लोकातीत समाधान प्रस्तुत करते हैं। इससे भिन्न, जीवन का इस तरह का दो भागों में विभाजन नहीं किया जा सकता है और उसकी समस्याओं के लिए केवल दार्शनिक समाधान ही नहीं बल्कि वास्तविक और व्यावहारिक समाधान भी आवश्यक है।

वेदान्त-सिद्धान्त :

आत्यन्तिक दु:खनिवृत्ति वेदान्त के महत्त्वपूर्ण विषयों में से एक है।

वेदान्त के अनुसार जीवन की समस्याओं को केवल वस्तुनिष्ठ और दृश्य जगत् की घटनाएँ नहीं माना जा सकता। न ही उन्हें व्यक्तिनिष्ठ अथवा मानसिक कल्पना मात्र कहा जा सकता है। वे काल और परिस्थिति के परिवर्तन के कारण नहीं होतीं और न ही रहस्यमय भाग्य द्वारा हम पर थोपी जाती हैं। हम यह नहीं कह सकते कि हमारी इच्छा स्वाधीन है और साथ ही यह भी नहीं कह सकते कि वह स्वाधीन नहीं है। यदि सब कुछ दैव-निर्दिष्ट होता तो जीवन का कोई अर्थ ही नहीं होता। इसके विपरीत यदि हमारी इच्छा पूर्णत: स्वाधीन होती तो हम दु:ख की शिकायत नहीं करते। वेदान्त का कहना है कि शुभ और अशुभ वस्तुएँ नहीं, बल्कि भावनाएँ हैं। सुख और दु:ख एक ही मन की दो अवस्थाएँ हैं। संसार न तो अच्छा है, न बुरा। वह विभिन्न व्यक्तियों के मनों द्वारा उनकी उपाधियों के फलस्वरूप मूल्यांकन के कारण अच्छा या बुरा दिखता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अनुभव किया गया शुभ-अशुभ का यह संसार बाहर नहीं बल्कि मन के अंदर ही है। मन की उपाधियाँ और पूर्वानुग्रह, पूर्वजन्म के संचित कर्मों के संस्कारों के कारण होते हैं और इनके फलस्वरूप एक विशेष मनोवृत्ति बन जाती है। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में "हमें वही मिलता है जिसके हम पात्र हैं। आओ, हम अपना अभिमान छोड़ दें और यह समझ लें कि हम पर आयी हुई कोई भी आपत्ति ऐसे नहीं है जिसके हम पात्र नहीं थे। फिजूल चोट कभी नहीं पड़ती; ऐसी कोई बुराई नहीं है जो मैंने स्वयं अपने हाथों न बुलाई हो। इसका हमें ज्ञान होना चाहिए। तुम आत्मनिरीक्षण कर देखो तो पाओगे कि ऐसे एक भी चोट तुम्हें नहीं लगी जो तुम्हारी स्वयं की गयी न हो। आधा काम तुमने किया और आधा बाहरी दुनिया ने और इस तरह तुम्हें चोट लगी। यह विचार हमें गम्भीर बना देगा और साथ ही इस विश्लेषण से आशा की आवाज आएगी, 'बाह्य जगत् पर मेरा नियंत्रण भले न हो पर जो मेरे अन्दर है, जो मेरे अधिक निकट है, वह मेरा अन्तर्जगत मेरे अधिकार में है।' यदि असफलता के लिए दोनों के संयोग की आवश्यकता होती है, यदि चोट लगने के लिए इन दोनों

का इकट्ठे होना जरूरी हो, तो मेरे अधिकार में जो दुनिया है, उसे मैं न छोड़ूँगा, फिर देखूँगा कि मुझे चोट कैसे लगती है? यदि मैं स्वयं पर सच्चा प्रभुत्व पा जाऊँ तो चोट कभी न लग सकेगी।'' (विवेकानन्द साहित्य नवम् खण्ड, पृष्ठ १८१, द्वितीय संस्करण, १९८९)

अशुभ संस्कारों से किसी भी प्रकार बचा नहीं जा सकता और उनकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। कोई भी व्यक्ति जीवन से भाग नहीं सकता। स्थान अथवा परिवेश बदलने से काम नहीं चलता क्योंकि हम जहाँ कहीं भी जाएँ, हमारा मन हमारे साथ जाता है। आदर्श परिवेश हमें दिया नहीं जा सकता, उसका तो अपने प्रयास से ही निर्माण करना पड़ता है। अतीत में जाने का प्रयास कोई समाधान नहीं है क्योंकि कोई भी भूतकाल में नहीं जा सकता। त्रुटिपूर्ण जीवन के परिणामों को उचित प्रकार से जीकर ही सुधारा जा सकता है। वेदान्त के अनुसार दुःख की समस्या का समाधान परकाल में नहीं बल्कि इहकाल में ही खोजना पड़ेगा। ऐसी समस्याओं को मृत्यू के बाद फिर से मेल बिठाने से नहीं सुलझाया जा सकता क्योंकि कोई भी समाधान तभी सार्थक हो सकता है जब वह समस्या के सन्दर्भ में हो, उससे सम्बन्धित हो। फिर, मृत्यु के बाद पवित्रात्माओं की मुक्ति की बात विश्वास पर आधारित है और जीवन में उसकी सत्यता सिद्ध नहीं की जा सकती। श्मशान से पहले और बाद की परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं और मृत व्यक्ति परलोक के बारे में बताने हेतु वापस लौटकर कभी नहीं आता। वेदान्त के अनुसार 'साल्वेशन' या निस्तार का अर्थ है, मुक्ति। इसका अर्थ एक स्थान से स्वर्गादि किसी दूसरे स्थान को जाना अथवा अप्राप्त की प्राप्ति नहीं है। वेदान्त – प्रतिपादित मुक्ति का सार सर्वस्व है, आत्मज्ञान। आत्मज्ञान का अर्थ है अपनी आत्मा का सब में और सबका अपनी आत्मा में साक्षात्कार करना। यह आत्मज्ञान चित्तशुद्धि द्वारा प्राप्त होता है। इस चित्तशुद्धि का दूसरा नाम है, मन को पूर्व संस्कारों से मुक्त करना। मन की यह संस्कारों से मुक्ति हमें स्वयं करनी होगी। इस समस्या का, जो स्वयं की आसक्ति और भोग का परिणाम है, कोई दूसरा व्यक्ति भोग कर समाधान नहीं कर सकता।

परिपक्व जीवन की रूपरेखा :

वेदान्त जीवन की समस्याओं का कोई आसान, अप्रत्याशित अथवा चमत्कारिक समाधान प्रस्तुत नहीं करता है। वह हमें जीवन की समस्याओं का परिपक्व जीवन द्वारा सामना करने की प्रेरणा देता है। समझदारी से जीये गये ऐसे जीवन की निम्नोक्त विशेषताएँ हैं :

१. परिपक्व जीवन लक्ष्य-केन्द्रित होता है, अतः वह सुव्यवस्थित होता है। अधिकांश लोगों के व्यावसायिक, शैक्षणिक, आर्थिक आदि अल्पकालीन लक्ष्य होते हैं लेकिन उनका समग्र जीवन के लिए कोई लक्ष्य नहीं होता। यही नहीं, उनके अल्पकालीन लक्ष्यों का प्रायः एक दूसरे से विरोध होता है। इससे यह प्रगट होता है कि जीवन का एक लक्ष्य होना चाहिए जिसके साथ अन्य सभी लक्ष्यों को समंजित और एकीकृत किया जा सके। वेदान्त में चार पुरुषार्थों की बात कही गई है : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। प्रथम तीन की सार्थकता तभी तक है जब तक वे चतुर्थ अर्थात् मोक्षप्राप्ति में सहायक हों। यदि कामनाओं की पूर्ति और जागतिक समृद्धि की प्राप्ति धर्म द्वारा नियंत्रित और मोक्षपरक न हों तो वे लोभ और प्रभुसत्ता की भूख की वृद्धि ही करेंगे। मुमुक्षा के बिना सौन्दर्यपरकता अपभ्रष्ट होकर कामुकता में पर्यवसित हो जाती है। आत्मानुसन्धान के लक्ष्य के बिना विज्ञान और तकनीकी जानकारी मानव के हाथों खतरनाक शस्त्र बन जाते हैं।

२. परिपक्व जीवन अनासक्त भाव से जीया जाता है। अनासक्ति व्यक्ति को वस्तुओं को देखने का सही दृष्टिकोण प्रदान करती है। अज्ञानी के लिए सभी वस्तुएँ नित्य और सत्य होती हैं। वे बिना प्रमाण के सब कुछ सत्य मान लेते हैं। वे जीवन से प्रेम और मृत्यु से घृणा करते हैं; सुख से चिपकते और दुःख से दूर भागते हैं। इसके विपरीत समझदार व्यक्ति सभी द्वन्द्वों को स्वीकार करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि अशुभ के बिना शुभ, दुःख के बिना सुख और मृत्यु के बिना जीवन सम्भव नहीं है। अनासक्ति आशावाद और निराशावाद दोनों से भिन्न है। सदा आशावादी होने का अर्थ है कल्पनालोक में जीना; दूसरी ओर सदा निराशावादी बने रहना नकारात्मक

दृष्टिकोण है और मानसिक अस्वस्थता का लक्षण है। अनासक्ति एक ऐसी मन:स्थिति है जो जीवन के तात्कालिक और शाश्वत मूल्यों को पृथक्-पृथक् करती है। अनासक्ति व्यक्ति को वह आन्तरिक स्वातंत्र्य प्रदान करती है जिस (स्वाधीनता बोध) के बिना जीवन में कोई आनन्द नहीं हो सकता।

३. वर्तमान में जीना परिपक्व जीवन का लक्षण है। अतीत की गलतियों और असलताओं का चिन्तन अथवा भविष्य के स्वप्न देखने से कोई लाभ नहीं होता। हमारा वर्तमान हमारे अतीत जीवन का परिणाम है और हमारा भविष्य हमारे वर्तमान पर निर्भर करता है। हमें वर्तमान में जीना चाहिए।

४. परिपक्व जीवन आध्यात्मिक दृष्टि से रचनात्मक होता है। जीवन क्रियाशील होता है और कोई भी कार्य तनावरहित नहीं हो सकता। हमारे कर्म आत्माभिव्यक्ति के साधन हैं और जीवन में आत्माभिव्यक्ति आवश्यक है। जहाँ आत्माभिव्यक्ति नहीं होती वहाँ मन परिपुष्ट नहीं होता और फलस्वरूप जीवन अर्थहीन हो जाता है। अधिकांश लोग क्रियाशील नहीं हो पाते, केवल प्रतिक्रिया करते रहते हैं। उनकी सभी क्रियाएँ, वचन और चिन्तन आवेगपूर्वक अथवा विवशतापूर्वक होते हैं। उनके कर्म स्वाधीन न होने के कारण रचनात्मक और अर्थपूर्ण नहीं होते। रचनात्मक कार्य में आन्तरिक बाधाएँ नहीं होतीं। अत: वह कुशल और स्वाभाविक होता है। लेकिन आत्माभिव्यक्ति के लिए संयम आवश्यक है।

५. परिपक्व जीवन का मूलमंत्र है : स्वप्रयत्न न कि स्वनिन्दा। भाग्य कुछ नहीं होता। हमें वही मिलता है जिसके हम अधिकारी हैं। हम अपने कर्मों से अपने भाग्य को बनाते या बिगाड़ते हैं और अपनी पात्रता के अनुरूप सुख अथवा दु:ख भोगते हैं। स्वप्रयत्न के बिना प्राप्त शान्ति के हम अधिकारी नहीं हैं। जो इहकाल को नहीं सँवार सकता उसका परकाल नहीं सुधर सकता। पलायनवादियों या अवसरवादियों को शान्ति नहीं मिल सकती।

६. परिपक्व जीवन के लिए अहंकार का परिपाक भी आवश्यक है। अहंबोध के बिना जीवन सम्भव नहीं है। आधुनिक मनोविज्ञान जीवन की विपत्तियों का सामना करने के लिए एक बलिष्ठ अहं की आवश्यकता पर

बल देता है। वेदान्त इस मत से सहमत है, लेकिन उसका मन्तव्य है कि बलिष्ठ होने के लिए अहंकार का परिपक्व होना आवश्यक है। भगवद्गीता में तीन प्रकार के अहंकारों का वर्णन है : तामसिक अथवा कच्चा अहंकार, राजसिक याने बढ़ा हुआ अहंकार और सात्विक अर्थात् परिपक्व अहंकार। ये तीन प्रकार के अहंकार, तीन प्रकार की, अपरिपक्व, विकृत और स्वस्थ जीवन पद्धतियों के संकेतक हैं। अपरिपक्व और अविकसित होने के कारण तामसिक अहंकार सदा आवेगपूर्ण और अपने बचाव में लगा हुआ होता है। वह निराशावादी होता है और स्वयं को कोसता रहता है। तामसिक अहंकार युक्त व्यक्ति की अपनी कोई पहचान, कोई निजी व्यक्तित्व नहीं होता। वह तो अपने विषय में दूसरों की मान्यता का प्रतिबिम्ब मात्र होता है। वह न तो प्रयत्न कर सकता है और न ही अपना मत दृढ़तापूर्वक स्थापित कर सकता है। राजसिक अहंकार वाला व्यक्ति आत्मप्रशंसक होता है और अपनी ही छवि पर मोहित होता है। वह सदा असुरक्षित अनुभव करता है, अत: आत्म संस्तुति करता रहता है और झगड़ालू होता है। सब से, सब ओर से कटा-कटा वह शत्रुओं और परेशानियों से युक्त संसार में जीता है। न तो वह खुद शान्त रहता है और न कहीं भी, किसी के साथ भी शांति से रह सकता है। तामसिक और राजसिक अहंकार से भिन्न सात्विक अहंकार परिपक्वता का द्योतक है। सात्विक अहंकार युक्त व्यक्ति जिम्मेदार, सुसमंजित, और विवेकी होता है। वह न तो आक्रामक होता है और न ही रक्षात्मक। सात्विक अहंकार बलवान होने के कारण विनम्र होता है और परिपक्व होने के कारण गोपन रहता है। अपने व्यक्तित्व के प्रति विश्वस्त होने के कारण वह दूसरों की कृपा पर आश्रित नहीं होता। लचकदार होने के कारण वह परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को ढाल लेता है। समझदार होने के कारण वह सीखने और अपना ज्ञानवर्धन करने के लिए तत्पर रहता है। अहंकार की परिपक्वता हमें प्रदान नहीं की जा सकती, न ही उसकी प्राप्ति का काल निर्धारण किया जा सकता हैं या उसमें जल्दबाजी की जा सकती है। यह परिपक्वता जीवन से सम्बन्धित होने के कारण परिपक्व जीवन यापन से

ही विकसित होती है।

७. परिपक्व जीवन लयात्मक होता है; उसमें प्रतिक्रिया और प्रत्याहरण का, ध्यान और कर्म का, अनासक्ति और आसक्ति का सन्तुलन होता है। जिस जीवन में ध्यान रूपी प्रत्याहरण नहीं होता, उसमें जीवन के कर्तव्यों की पूर्ति के लिए समुचित क्रिया नहीं हो सकती। प्रकृति भी लयात्मक है। दिनभर के कठोर परिश्रम के बाद प्रकृति हमें विश्राम के लिए बाध्य करती है, लेकिन यह भौतिक प्रत्याहरण मात्र है। निद्रा में देह को विश्राम मिलने पर भी मन गतिशील रहता है, अत: अनासक्ति द्वारा मन का प्रत्याहरण बहुत आवश्यक है। 'व्यक्ति' और 'अभिव्यक्ति' – ये दो शब्द इस लय के दो पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'व्यक्ति' आत्मसाक्षात्कार की आवश्यकता का द्योतक है। और 'अभिव्यक्ति' आत्माभिव्यक्ति का। जहाँ व्यक्तित्व नहीं है वहाँ अभिव्यक्ति नहीं हो सकती क्योंकि आत्मसाक्षात्कार के बिना आत्माभिव्यक्ति सम्भव नहीं है।

परिपक्व जीवन योग-प्रेरित जीवन है। योग कुछ आसनादि अथवा कुछ रहस्यमय क्रिया-अनुष्ठान नहीं है। साधक के उद्देश्य की सच्चाई योग की कसौटी है। ईश्वर प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य बनाने पर एवं हमारी सभी आशा-आकांक्षाओं को उस एक लक्ष्य की ओर परिचालित करने पर ही योग सधता है। जब योग जीवन के साथ अभिन्न हो जाता है तब सब कुछ पुनीत हो जाता है। हमारा कर्म उपासना बन जाता है। हमारे मन, वचन और कर्म आत्मसाक्षात्कार रूपी अग्नि में आहुति स्वरूप बन जाते हैं। योग आन्तरिक शान्ति और समरसता का मूल आधार है। अत: योग का कोई विकल्प नहीं है, क्योंकि आन्तरिक शान्ति और समरसता का कोई विकल्प नहीं है। योगविहीन जीवन लक्ष्य हीन भटकने वाले पतवारहीन जहाज के समान है। ईश-उपनिषद् में कहा गया है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा ... ॥१॥

अर्थात् इस परिवर्तनशील जगत में जो कुछ है, उस सभी को ईश्वर

द्वारा आवरित करो। इस त्याग द्वारा आत्मा की रक्षा करो। हमारी सारी सांसारिक सम्पत्ति, आकांक्षाएँ, दान और उपलब्धियाँ, चाहे वे भौतिक हों अथवा मानसिक, नैतिक हों या बौद्धिक, तब तक हमें सुख और शान्ति प्रदान नहीं कर सकतीं जब तक उनका उपयोग योगाभ्यास के लिए न किया जाय। समस्त योगाभ्यास की परिसमाप्ति आत्मसाक्षात्कार में होती है जो आन्तरिक परिपक्वता द्वारा प्राप्त मुक्ति है। ऐसा मुक्त जीव जीवन्मुक्त कहलाता है। वह किसी से मुक्त नहीं होता बल्कि सब के बीच मुक्त बना रहता है। परम परिपक्वता के विकास के फलस्वरूप वह मुक्त होता है।

परिपक्व जीवन एक ऐसी वस्तु है जो सुनने अथवा पढ़ने मात्र से नहीं बल्कि जीने से ही सीखी जा सकती है। परिपक्व जीवन की नींव ऐसे पुरुषत्व द्वारा डाली जाती है जो जोखिम उठाकर, गलतियाँ करके, सीखने के लिए तत्पर हो। पुरुषत्व समस्त सद्गुणों का सार-सर्वस्व है; पुरुषत्व देवत्व की अनिवार्य सीढ़ी है।

□□□

(२)

ध्यान में बैठने से पहले

स्वामी अशोकानन्द

ईश्वर सम्बन्धी एक विचार का न टूटने वाला प्रवाह ध्यान कहलाता है। मेरा विश्वास है कि इस ध्यान से मनुष्य सर्वोच्च सत्य की उपलब्धि सहज ही कर सकता है, क्योंकि यदि कोई एक विचार लम्बे समय तक लगातार चलता रहे तो अन्त में मन उस विचार से अभिभूत हो जाता है। यदि हम किसी भाव विशेष से मन को लगातार रंगते रहें तो प्रारम्भ में भले ही मन की चाहे जैसी अवस्था रहे – वह आध्यात्मिक हो या न हो, उसमें ईश्वर के प्रति अनुरक्ति हो अथवा वह वासनाओं से क्षुब्ध हो – पर कालान्तर में उसमें इच्छानुकूल परिवर्तन आएगा ही।

श्रीरामकृष्ण इस तथ्य पर अधिक बल देते थे। इस विषय पर उन्होंने जो उपदेश दिये, उनमें से एक उपदेश को समझने में मुझे बहुत समय लगा। पर जब मैं उसे समझ गया – और आशा करता हूँ कि मैं उसे समझ गया हूँ – तो मैंने उसमें महती सम्भावना और आशा देखी। वे कहते थे कि मन मानो रंगरेज के यहाँ का कपड़ा है। कपड़े को जिस रंग में डुबाओ, वह वही रंग ले लेता है। पहले तो मैं सोचता था कि श्रीरामकृष्ण का तात्पर्य यह है कि मन को भगवत् चिन्तन में डुबोकर ईश्वर के रंग में रंगने के लिए उसे पहले पूरी तरह पवित्र बना लेना चाहिए। पर इसमें तो कोई विशेष उत्साह की बात नहीं है क्योंकि प्राय: सभी आध्यात्मिक साधकों के समक्ष मन की शुद्धि ही सबसे बड़ी समस्या रही है। इस प्रकार की पवित्रता को पा लेना

मानो तीन-चौथाई युद्ध को जीत लेना है क्योंकि जब मन पूरी तरह शुद्ध हो जाता है तो आध्यात्मिक अनुभूति स्वत: ही उपस्थित होती है। पर जब मैं श्रीरामकृष्ण की इस उपमा पर मनन करने लगा तो बात कुछ अलग ढंग से मेरी समझ में आने लगी। जब उन्होंने मन की उपमा रंगरेज के कपड़े से दी तो उनका तात्पर्य साधारण मन से था, जो मन सांसारिक और विरोधी विचारों एवं भावनाओं से ठसाठस भरा होता है तथा जो ईश्वर सम्बन्धी विचारों से विमुख है। उन्होंने जिस मन की उपमा रंगरेज के कपड़े से दी, वह शुद्ध किया हुआ मन नहीं था प्रत्युत् वह ऐसा मन था जो चाहे जिस दशा में हो। मेरी समझ में उनका तात्पर्य यह था कि साधारण मन भी यदि ईश्वर-चिन्तन में डुबा दिया जाए तो वह आध्यात्मिक रंग लेगा।

यह एक अद्भुत उत्साहवर्धक और सहायक मनोवैज्ञानिक सत्य है, पर आध्यात्मिक साधक बहुधा इसे भूल जाते हैं। एक समय कोई व्यक्ति श्रीरामकृष्ण के पास आया और कहने लगा, "मैं अपने मन को वश में नहीं कर पा रहा हूँ – उसका उपाय भी नहीं जानता।" श्रीरामकृष्ण ने इस पर कहा, "तुम अभ्यासयोग क्यों नहीं साधते?" अभ्यासयोग का तात्पर्य है – मन को बारम्बार ईश्वर के चिन्तन में लगाना। भगवद्गीता में इस साधन की विशेष चर्चा की गयी है। प्रारम्भ में मन यदि इधर-उधर घूमता हो तो उससे क्या क्षति है? पर हाँ, हमें उस मन को खींचकर बारम्बार ईश्वर में लगाना चाहिए। यदि हम इसे स्मरण रख सकें तो आधा युद्ध तो जीत ही लिया। पर दुर्भाग्य से बहुधा हम इसे भूल जाते हैं और दूसरी बातों में मन को लगा देते हैं तथा आध्यात्मिक जिज्ञासा को पूर्णत: बिसरा देते हैं। ऐसी दशा में, मैं समझता हूँ, आत्मसंयम और ध्यान के उपायों से सम्बन्धित कतिपय बातों की चर्चा करना लाभदायक होगा।

ध्यान के लिए मन की कौनसी अवस्था उपयुक्त है? मैं समझता हूँ आप उसे 'शान्त मन' के रूप में जानते हैं। यह कोई बलपूर्वक प्राप्त शान्ति नहीं है बल्कि वह ऐसी शान्ति है जो अधिकांश प्रबलतम वासनाओं के क्षीण होने पर उपजती है। जो बातें मन को विक्षुब्ध करती हैं – वे चाहे भीतर

से उठी हों अथवा बाहर से आयी हों – हमारी गुप्त, मूलभूत वासनाओं से सम्बन्धित होती हैं। हम सदैव किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। यद्यपि हम जी-तोड़ परिश्रम करते हैं, तथापि बहुधा हम असफल हो जाते हैं और असफलता मन को प्रक्षुब्ध कर देती है। यदि सफलता मिलती भी है तो परिणाम बड़े विचित्र होते हैं। कभी कभी ऐसा होता है कि जब हम अपनी काम्य वस्तुओं का उपभोग कर रहे होते हैं तो वे हमारी पकड़ से दूर चली जाती हैं। इससे हमें निराशा होती है और ऐसा लगता है मानो हम छले गये हैं। इसके विपरीत जब हम इस प्रकार निराश नहीं होते तो उपभोग्य वस्तुओं के प्रति आसक्त हो जाते हैं। पर उपभोग तो लगातार तीव्र नहीं हो सकता; अतएव परिणामस्वरूप ऊब आती है। ये सभी प्रतिक्रियाएँ मन को अनवरत चञ्चल बनाये रखती हैं – चाहे वह चञ्चलता सुखमय हो या दुःखमय। इस तरह हम देखते हैं कि जो विचार हमारे मन को भगवद्भाव में बैठने नहीं देते, वे हमारी वासनाओं के विषयों से सम्बन्धित होते हैं और जब हम अपनी प्रबलतम वासनाओं को निर्मूल करने में समर्थ होते हैं तभी मन अपेक्षाकृत शान्त भाव धारण करता है।

मन की इस अपेक्षाकृत शान्त स्थिति को हम 'प्रत्याहार' का प्रारम्भ कहते हैं। इस स्थिति में यद्यपि मन कभी-कभी चञ्चल होता है तथापि दूसरे समय वह शान्त रहता है। जब वह विषयभोगों के सम्पर्क में आता है तब चञ्चल हो जाता है, अन्यथा वह बहुत कुछ शान्त रहता है। यह बड़ी अनुकूल अवस्था है। जब देखो कि चञ्चल बना देनेवाली वस्तुओं के प्रत्यक्ष संपर्क में नहीं हो तो तुम्हारा मन स्वाभाविक रूप से शान्त है, जब अनुभव करो कि तुम अकेला होना पसन्द करते हो और तुममें एक गम्भीर भाव आया है, तो समझ लेना कि ऐसी स्थिति बड़ी ही वांछनीय है। मन की ऐसी अवस्था में तुम्हें यथाशक्ति ध्यान के अभ्यास में लग जाना चाहिए, उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। मन बड़ा परिवर्तनशील होता है। ऐसा न सोचना कि एक बार मन की वाञ्छित स्थिति प्राप्त हो जाने पर वह उसी प्रकार बनी रहेगी। हो सकता है कोई बात भीतर से उठे अथवा बाहर से आये जो तुम्हें

विचलित कर दे। ऐसी दशा में मन को फिर से शान्त करने में कभी-कभी पाँच तो कभी दस वर्ष भी लग जाते हैं, जैसे तूफ़ान के बाद समुद्र को शान्त होने में कई दिन लग जाते हैं।

मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि हम कभी भी पूर्णतः सुरक्षित न हो सकेंगे। निस्सन्देह मन की एक ऐसी स्थिति है जहाँ पहुँच जाने पर किसी प्रकार का भय नहीं रहता पर वह एक बहुत ऊँची अवस्था है। जब व्यक्ति इस चरम एकाग्रता की स्थिति पर पहुँच जाता है तो वह अपने पीछे के पुलों को तोड़ देता है। वह ऐसी स्थिति पर पहुँच चुका होता है जहाँ संसार की वस्तुएँ उसे और आकर्षित नहीं कर पातीं; जिस जगत् को वह पीछे छोड़ चुका है उसके प्रति उसका मन अब और लुब्ध नहीं होता। वह सुरक्षित हो जाता है।

मान लो हम ऐसी स्थिति में पहुँच चुके हैं जिसमें मन यद्यपि कभी-कभी चञ्चल रहता है तथापि दूसरे समय शान्त रहता है। ऐसी दशा में ध्यान में सफल होने के लिए हमें क्या करना चाहिए?

(१) सर्वप्रथम हमें दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए कि हम अभ्यास में एकदम नियमित रहेंगे। जिस प्रकार अपनी अनिवार्य शारीरिक आवश्यकताओं के प्रति हम सर्वदा सचेत और तत्पर रहते हैं – चाहे कुछ भी हो हम उनके लिए समय निकाल ही लेते हैं – उसी प्रकार हमें ध्यान के अभ्यास के प्रति भी निष्ठावान होना चाहिए। श्वास-प्रश्वास के समान ही ध्यान को भी जीवन का अंग बन जाना चाहिए। हमारे देश में जब कोई व्यक्ति बहुत व्यस्त होता है तो कहता है, "मुझे साँस लेने तक की फुर्सत नहीं है।" पर यथार्थ में वह साँस तो लेता ही है। उसी प्रकार हमें ध्यान के लिए तत्पर होना चाहिए। भले ही प्रारम्भ में ध्यानाभ्यास की इच्छा उतनी तीव्र न दिखती हो पर मन में दृढ़ निश्चय कर लो; अपने आप से कहो, "मैं ध्यान करूँगा ही।"

श्रीरामकृष्ण मुसलमानों की प्रार्थना सम्बन्धी वक्त की पाबन्दी की बहुधा प्रशंसा करते थे। मुसलमान चाहे जहाँ हो, चाहे जो करता हो, पर ज्योंही नमाज का समय हुआ कि वह सब काम बन्द कर देता है; वुजू करता है

और गमछे को जमीन पर बिछाकर कम से कम पन्द्रह मिनट तक नमाज पढ़ता है। यदि आवश्यकता हुई तो सड़क के किनारे भी गमछा बिछाकर नमाज़ पढ़ने से वह नहीं हिचकता। उसके इस नियम में व्यतिक्रम नहीं होता। यदि कोई कहे कि मुझे ध्यान के लिए समय नहीं मिलता तो उसकी बात में कोई युक्ति नहीं है। हाँ, कभी-कभार ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं, जब किसी को सचमुच ही समय नहीं मिले। पर यह कहना कि, "मैं इतना व्यस्त रहता हूँ कि उसके लिए समय नहीं निकाल पाता", अथवा यह कि मैं शाम को इतना थक जाता हूँ कि ध्यान में बैठना सम्भव नहीं हो पाता", केवल टालमटोल है। जो ऐसे तर्क उपस्थित करता है उसे समझना चाहिए कि सन्ध्या के लिए कुछ शक्ति बचाकर रखने से उसे कोई नहीं रोक सकता। पर वह अपनी सारी शक्ति दिन के समय दुनिया-भर अन्य बातों में खर्च कर देगा – और कभी-कभी तो हानिकारक बातों में – और शाम होने पर ध्यान न कर सकने के लिए अपने तईं झूठे तर्क उपस्थित करेगा। यदि उससे इस सम्बन्ध में पूछो तो कहेगा, "मुझे अधिक नींद चाहिए मैं थका हूँ। सुबह उठकर आफिस जाने की भाग-दौड़ रहती है; समय है कहा?"

हमारे यहाँ एक गीत प्रचलित है जिसमें बताया गया है कि अपना सारा जीवन मूर्खतापूर्वक बिताने के बाद अन्त में मनुष्य को अपनी भूल समझ में आती है और वह कह उठता है, "प्रभु, संसार की अन्य सब बातों के लिए मुझे समय मिला पर तेरे ध्यान के लिए मैं समय न निकाल सका।" मानव मन की इस विचित्रता को तो देखो। हमारे जीवन में बाकी सभी बातों के लिए समय और स्थान है पर ध्यान करने के लिए हमें दिन में पन्द्रह मिनट का भी अवकाश नहीं है। यदि तुम मुझसे कहो कि मुझे समय नहीं मिल पाता अथवा मुझमें शक्ति नहीं रह जाती तो क्या समझते हो कि मैं तुम्हारी बात पर विश्वास कर लूँगा? मैं तो कहूँगा कि तुम आत्मप्रवंचना कर रहे हो। जहाँ चाह है, वहाँ राह है। यदि तुम संकल्प कर लो तो नित्य ध्यान के लिए समय निकाल सकते हो।

यहाँ पर मैं एक सुझाव देना चाहता हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि निराशा

आती है। कभी-कभी ध्यान के समय मन अद्भुत रूप से कार्य करता है; वह सहज ही शान्त और एकाग्र हो जाता है और तुम उत्साहित हो जाते हो। पर यदि दूसरे समय वह ठीक व्यवहार न करे, शान्त होना नामंजूर कर दे और तरह-तरह के विचारों से चञ्चल होता रहे तो हो सकता है तुम कह बैठो, "ध्यान करने से कोई लाभ नहीं। प्रयत्न तो करता हूँ पर कोई फल नहीं होता।" यहाँ पर मैं बताना चाहूँगा कि यदि तुम उदात्त मानसिक गुणों के साथ जन्मे नहीं हो और आध्यात्मिक विकास की प्रकर्ष अवस्था में पहुँचे हुए नहीं हो तो अन्य सभी साधकों की तरह तुम्हें भी मन के उतार-चढ़ाव देखने होंगे। पर इससे हताश न होओ। ऐसा न सोचो कि जब तक मन पर्याप्त रूप से आध्यात्मिक नहीं हुआ है तब तक तुम ध्यान करने के योग्य नहीं हो। कुछ लोगों ने पूछा है, "मन की निम्न अवस्था में मैं ईश्वर की ओर कैसे जा सकता हूँ?" यदि तुम्हें ठण्ड लग रही हो तो क्या तुम कहोगे कि, "चूँकि मैं ठण्डा हूँ अत: आग के पास जाने के पूर्व गरम हो लूँ; या यह कि चूँकि मुझे ठण्ड लग रही है अत: पहला काम है कि आग के पास जाऊँ और अपने को गर्म कर लूँ?" यदि तुम अपने भीतर आध्यात्मिकता का अभाव देखते हो तो वही ईश्वर का ध्यान करने का सबसे उचित समय है।

स्वयं को मन के द्वारा गुमराह न होने दो। मन तुम्हें कितने ही प्रकार से छल सकता है – कभी प्रत्यक्ष रूप से छलेगा तो कभी धर्म के ही नाम पर गुमराह कर देगा। "मैं पर्याप्त आध्यात्मिक नहीं हूँ", ऐसा सोचकर तुम ध्यान करने से जो आनाकानी करते हो, वह मन का ही एक छल है। तुम्हारी मानसिक दशा कैसी भी क्यों न हो, भले ही तुम्हारा मन निम्न विचारों से भरा हो पर ईश्वर के चिन्तन का प्रयत्न करो। हाँ, यह सम्भव है कि तुम इच्छानुसार ईश्वर का चिन्तन या उनका ध्यान न कर सको पर उससे क्या हुआ? प्रयत्न करते रहो। बदमाश घोड़ा दुलत्तियाँ झाड़ता है, अड़ जाता है और सवार को फेंक देने की कोशिश करता है। पर यदि सवार दृढ़ता से जीन पर बैठा रहे तो घोड़ा शान्त हो जाता है और जान लेता है कि

उसे स्वामी मिल गया है। मन भी इसी भाँति बर्ताव करता है। पहले तो वह तुम्हें विचलित करने का प्रयत्न करेगा पर जब देखेगा कि तुम विचलित होने वाले नहीं हो तो वह तुम्हारा गुलाम हो जाएगा। यही मन का रहस्य है। अतः उसकी दशा के सम्बन्ध में मत सोचो। उस पर सवार होने का निश्चय कर लो और यह निश्चय ही, जिसमें ध्यान उपलक्षित है, अपने आप में एक विजय है।

(२) इसके बाद ध्यान के लिए तुम एक नियत समय बना लो। मेरे मत से मनुष्य को दिन में कम से कम दो बार ध्यान करना चाहिए। यदि दो बार न जमें तो एक बार उसे अवश्य ही करना चाहिए – चाहे प्रातःकाल या सन्ध्या के समय।

भारत में हम लोग ध्यान के लिए चार मुहूर्त उपयुक्त समझते हैं। एक है ब्राह्म मुहूर्त – सूर्योदय से कम से कम एक घण्टा पहले। उस समय तब भी अन्धेरा रहता है। यह ध्यान करने का बड़ा अच्छा समय है। इस सम्बन्ध में अधिक चर्चा बाद में करेंगे। दूसरा मुहूर्त है – दोपहर। शहरों में इस मुहूर्त से कौन सा लाभ उठाया जा सकता है, यह तो मैं नहीं कह सकता, पर गावों में और विशेषकर उष्ण कटिबन्धीय देशों में निस्सन्देह उसकी उपादेयता है। इस समय एक प्रकार का सन्नाटा छाया रहता है और प्रकृति मानो स्थिर हो जाती है। उस समय गर्मी के मारे पक्षी तक नीरव हो जाते हैं और अपने को वृक्षों की पत्तियों में छिपा लेते है। मनुष्य भी शान्त रहते हैं; बहुधा वे उस समय विश्राम करते हैं और निश्चितरूपेण शान्ति का भाव सर्वत्र छाया रहता है। मुझे तो अपने देश में ऐसा ही लगता था। वहाँ अनेक लोग इस समय ध्यान और उपासना किया करते हैं।

ध्यान का तीसरा मुहूर्त है – सायंकाल। दुर्भाग्य से इस देश में उस समय ध्यान करना कठिन है, क्योंकि वह भोजन का समय होता है। तथापि वह ध्यान का उत्कृष्ट समय है। यदि हो सके तो भोजन के कुछ पहले ध्यान का अभ्यास कर सकते हो पर भोजन के तत्काल बाद ध्यान करना ठीक नहीं है, क्यों कि उससे पाचनक्रिया पर बुरा असर पड़ सकता है और स्वास्थ्य

नष्ट हो सकता है।

चौथा मुहूर्त है – मध्यरात्रि। इस देश में रात के बारह बजे भी उतनी शान्ति नहीं रहती; पर तो भी उस समय मनुष्य एक प्रकार की निस्तब्धता का अनुभव करता है। जहाँ पर्याप्त शान्ति रहती है वहाँ मध्यरात्रि ध्यान के लिए विशेष उपयुक्त है। वस्तुत: कई लोगों का विश्वास है कि ध्यान के लिए मध्यरात्रि ही सर्वोत्कृष्ट समय है।

ब्राह्म मुहूर्त के ध्यान में सायंकाल के ध्यान की अपेक्षा कुछ अधिक विशेषता है। रात्रि-विश्राम के बाद मन शान्त रहता है। मन पर पूर्व दिन के पड़े सारे संस्कार तिरोहित से रहते हैं, जैसे स्कूल के बाद किसी ने तख्ते को पोंछ दिया हो। फिर उस समय प्रकृति भी निस्तब्ध रहती है और शहर भी पूरा जागा हुआ और कोलाहलपूर्ण नहीं रहता। फलत: मन को शान्त करना अपेक्षाकृत सरल मालूम होता है। एक अन्य लाभ यह है कि दिन का प्रारम्भ होने के पूर्व ध्यान करके तुम अपने मन को आध्यात्मिक गति और दिशा प्रदान करते हो। भले ही दिन के बढ़ने के साथ-साथ वह आध्यात्मिक शक्ति और उत्साह कुछ क्षीण होता हुआ मालूम पड़े तथापि कई घण्टों तक वह बना रहता है और दिन के अधिकांश भाग तक वह तुम्हें उत्साहित किये रखता है।

मैं यहा पर बता दूँ कि कुछ लोगों के लिए भोर की अपेक्षा सन्ध्या ही ध्यान का अधिक उपयुक्त समय हो सकता है। कुछ लोगों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे दिन के ऊपर उठने के साथ-साथ अधिक सजग होते जाते हैं। सुबह वे केवल अर्धजागृत होते हैं, पर सन्ध्या होते-होते वे पूरी तरह जग जाते हैं और उनकी बुद्धि स्वच्छ और पैनी होकर कार्यक्षम हो जाती है। ऐसे लोगों के लिए सन्ध्या या रात्रि निस्संदिग्ध रूप से ध्यान का अधिक उपयुक्त समय साबित होगी। ध्यान के लिए विशेष रूप से उपयुक्त इन चार मुहूर्तों में से यदि एक का भी तुम लाभ न उठा सको तो कोई भी समय चुन लो जो तुम्हारे लिए सर्वाधिक सुविधापूर्ण हो और दृढ़ निश्चय के साथ उससे लगे रहो। ध्यान के लिए नियत समय का दृढ़तापूर्वक पालन

करना बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि मन आदत के अनुसार कार्य करता है। यदि मन को लगातार कई दिनों तक एक नियत समय पर एक विशिष्ट ढंग से सोचने और अनुभव करने के लिए बाध्य किया जाए तो वह उस नियत समय के आते ही अपने आप उसी ढंग से सोचने और अनुभव करने लगेगा। यदि हम एक निर्दिष्ट समय में ईश्वर का ध्यान करें तो उस निर्दिष्ट समय के सन्निकट आते ही हमारा मन बिना किसी प्रयत्न के ईश्वरी भाव से भावित हो जाएगा। अभ्यास की नियमितता से प्राप्त होने वाला यह कोई सामान्य लाभ नहीं है।

(३) जिस प्रकार ध्यान के लिए एक नियत समय आवश्यक है, उसी प्रकार उसके लिए एक निर्दिष्ट स्थान भी आवश्यक है। मन्दिरों और गिरजाघरों का यही एक बड़ा लाभ है। लोग इन स्थानों में ईश्वर चिन्तन करते हैं, इसलिए वहाँ की हवा तक पवित्रता और ईश्वरीय भाव से भरी रहती है। वहाँ जाने से ही मन ऊपर उठ जाता है। मन्दिर या गिरजाघर का यह वातावरण तुम अपने कमरे के कोने में भी ला सकते हो, क्योंकि जहाँ पर भी कोई विचार-प्रवाह तीव्रता के साथ अविकल रूप से बहता है वह स्थान उस विचार के स्पन्दनों से भर जाता है। इसका कारण यह हो सकता है कि भौतिक वातावरण और परिवेश शरीर से सम्बन्धित रहते हैं और शरीर मन के विचारों के अनुरूप स्पन्दित होता है। यदि हमारे विचार शुद्ध हैं तो हमारा शरीर भी उस शुद्धता को प्राप्त होता है, जिसे हम आध्यात्मिक स्पन्दन कह सकते हैं। स्वाभाविक ही शरीर के इस परिवर्तन के साथ बाहर का वातावरण भी बदल जाता है।

इस प्रकार ध्यान का तुम्हारा निर्दिष्ट स्थान आध्यात्मिक ऊर्जा से भर जाएगा; वह आध्यात्मिक स्पन्दनों से ऐसा ओतप्रोत हो जाएगा कि ज्योंही तुम उस स्थान पर पहुँचोगे त्योंही तुम्हारा मन ध्यान के भाव से भावित हो उठेगा। वह मानो जादू के स्पर्श से शान्त हो जाएगा, और तुम एक निश्चित ईश्वर-भाव का अनुभव करोगे। कितना बड़ा लाभ है यह, और यह चमत्कार सा दिखने वाला कार्य तुम एक सहज उपाय से सिद्ध कर सकते हो। वह है – ईश्वर चिन्तन के लिए एक अलग स्थान रख देना और नियमित समय

पर वहाँ ध्यानाभ्यास करना।

(४) जब हम अपने मन में छिपे वासना, आवेश, लोलुपता और कामना रूपी सूक्ष्म शत्रुओं का बल नापते हैं, तो जिन उपायों की मैंने ऊपर चर्चा की है, वे बचाव के लिए बहुत कमजोर से दिखते हैं। मैं इसे स्वीकार करता हूँ। जब मैं शत्रुओं को छिपे हुए कहता हूँ तो इसका तात्पर्य है कि हममें से सर्वश्रेष्ठ जन भी उनके प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं हैं। ऐसा कहा जाता है कि मनुष्य जब तक भगवान के चरणों को प्रत्यक्षतः छू नहीं लेता तब तक वह उनके चंगुल से पूरी तरह छूट नहीं सकता। जैसे जाड़ों में बाग-बगीचों की घास पात और सूखे तृण साफ़ कर दिये जाते हैं पर वसंत की पहली वर्षा से ही धरती में पड़े हुए सूक्ष्माकार बीज अंकुरित होकर हरियाली छा देते हैं, उसी प्रकार हमारे मन में बहुत से सूक्ष्म विचार, संस्कार और कामनाएँ छिपी रहती हैं, और उठने के लिए प्रथम अवसर की ताक में रहती हैं। अतएव हमें बड़ा सावधान रहना चाहिए। हम जानते हैं कि ये बुरे संस्कार हमारे मन में विद्यमान हैं और यदि हमने इनको नहीं रोका तो ये हमारी चेतना पर सुगमता से छा जाएँगे। हमारी समस्या यह है कि अपने मन के बड़े भाग को – और धीरे-धीरे उससे भी बड़े भाग को हम किस प्रकार बुरे आवेगों और कामनाओं के अधिपत्य से मुक्त रखें, जिससे कि हम ऐसे मुक्त मन से ईश्वर का चिन्तन कर सकें।

जब तक यह नहीं सधता तब तक हमें अपनी वासनाओं और प्रतिकूल आवेगों को जीतने के लिए क्या करना चाहिए? कभी-कभी वे सीधे आक्रमण से परास्त हो जाते हैं पर साधारणतया एक बाजू से आक्रमण करना बेहतर होता है। मन की किसी स्थिति को जीतने के लिए उस पर सीधा हमला बोल देना लाभ के बदले हानि अधिक कर सकता है, क्योंकि उससे मन बहुधा और भी अधिक फँसता जाता है। उत्तम तो यह है कि जिस मनःस्थिति को दूर करना है उसका चिन्तन ही न किया जाय। इस मनोवैज्ञानिक सत्य को याद रखो – जितना ही तुम मन की किसी अवस्था का चिन्तन करोगे, वह उतनी ही दृढ़ होती जाएगी।

एक कहानी है। कोई संन्यासी था, जो सड़क के किनारे किसी पेड़ के नीचे बैठकर प्रार्थना और ध्यान किया करता था। एक बदनाम स्त्री बहुधा उधर से निकलती थी; यह संन्यासी उससे कहा करता था, "तुम्हें अपनी बुरी आदतें छोड़ देनी चाहिए और अब अच्छी बनने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि मेरी बात पर ध्यान न दोगी तो मृत्यु के बाद तुम्हारी बहुत दुर्गति होगी।" जब भी संन्यासी उस स्त्री को देखता तभी इस प्रकार की चेतावनी दिया करता था। कालान्तर में दोनों की मृत्यु हुई और दूत उनकी आत्मा को लेने आए। ऐसा कहते हैं कि भली आत्मा को लेने के लिए देवदूत आते हैं और उसे स्वर्णरथ पर बिठाकर ले जाते हैं, तथा दुष्ट आत्मा के लिए यम का दूत आता है। हुआ यह कि संन्यासी के लिए यमदूत आया और स्त्री के लिए देवदूत।

संन्यासी चकित हो गया। वह बोल उठा, "कहीं गलती हुई दिखती है।" "नहीं", यमदूत बोला, "कहीं गलती नहीं हुई। सब कुठ ठीक है।" "ऐसा कैसे हो सकता है", संन्यासी ने पूछा। यमदूत गम्भीरतापूर्वक बोला, "भले ही ऊपर से ऐसा लगता था कि तुम ध्यान कर रहे हो, पर असल में तुम सारे समय उस स्त्री और उसके चरित्र का ही चिन्तन किया करते थे। क्या तुम्हारा मन अनवरत दोष दर्शन नहीं करता रहा? पर वह स्त्री सदैव ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करती रही, "प्रभु, मैं कमजोर हूँ। मुझे बचाओ। क्या उसका मन तुम्हारे मन की अपेक्षा ईश्वर में अधिक नहीं लगा रहा?" संन्यासी इसका कोई उत्तर नहीं दे सका।

यह एक चरम उदाहरण हो सकता है, पर इसमें एक गम्भीर मनोवैज्ञानिक सत्य भरा है। यह मानसिक क्रिया सम्बन्धी एक मूलभूत सत्य की ओर संकेत करता है और इस सत्य का तुम आत्म-विजय के अपने संघर्ष में उपयोग कर सकते हो। जब मन को किसी अवाञ्छित तत्त्व पर लगने दिया जाता है तो वह निश्चयपूर्वक एक ऐसा संस्कार उत्पन्न करता है जो मूल की अपेक्षा कहीं अधिक प्रबल होता है। उस तत्त्व के बारे में और अधिक सोचने से वह मन में अधिकाधिक दृढ़ीभूत होता जाता है और

एक मानसिक ग्रन्थि का रूप भी ले सकता है। इससे मेरा मतलब यह नहीं है कि तुम्हें अपने मन को नहीं रोकना चाहिए या उसे बेलगाम छोड़ देना चाहिए या जैसा कि कहा है, उसे 'स्वाभाविक' रहने देना चाहिए। न ही मेरा मतलब यह है कि तुम अपनी कमजोरियों की उपेक्षा कर दो। मेरा असल तात्पर्य यह है कि मन से सीधा झगड़ा मोल न लेना ही अधिक निरापद है। बेहतर मोर्चेबन्दी तो यह है कि हम मन को एक नयी भूमिका में रहना सिखाएँ। पहले हमें उसे अपनी दुर्बलता की भावना से अलग कर किसी निर्दोष और आनन्दप्रद विषय पर लगाएँ और बाद में धीरे-धीरे उसे उच्चतर भावना में अवस्थित करें। आत्मसंयम की यह प्रणाली मन को कुचलती नहीं बल्कि अवाञ्छित भावनाओं के बदले वाञ्छित भावनाओं में लगाकर उसे बुरे संपर्कों से ऊपर उठाती है।

यदि आज तुम अपने में कोई ऐसा महत् दोष पाते हो जिसे दूर करना लगभग असम्भव सा लगता है तो तुम्हीने उस पर बारम्बार सोचकर और उसमें मन को लगाकर उसे इतना प्रबल बनाया होगा। उस पर न सोचो, उसे आश्रय न दो, देखोगे कि वह दोष निस्तेज हो जाएगा और पोषण के अभाव में धीरे-धीरे मिट जाएगा। मैं यह नहीं कहता कि यह विधि सरल है, पर अभ्यास से तुम इस प्रकार अपनी आदत बना सकते हो और यह आध्यात्मिक प्रगति का अचूक उपाय है। कुछ समय तक अपनी अवाञ्छित भावनाओं को अनाहार रख देने से तुम देखोगे कि भले ही उनमें से कई मिट चुकी हैं तथापि कुछ बनी हुई हैं। उसकी अधिक चिन्ता न करो, उन्हें रहने दो, पर यही देखो कि उन्हें बल न मिलने पाये। उन्हें घेरे में डाले रखो। देखोगे, अन्त में वे भी मिट जाएँगी।

(५) मानसिक संघर्ष और विक्षेप का एक प्रमुख कारण है, कुसंग। वैसे तो सभी प्रकार के लोगों से मिलना-जुलना बहुत अच्छा है, यदि हम उनकें संग से निर्लिप्त रह सकें; पर ऐसा क्वचित ही होता है। मैं ऐसे किसी व्यक्ति को नहीं जानता जो इस प्रकार निर्लिप्त रह सकता हो। अतः आध्यात्मिक जीवन में अच्छे संग और भले सम्पर्कों की महत्ता बहुत अधिक है। यदि

तुम अपवित्र लोगों का साथ करो और बुरी बातों के सम्पर्क में आते रहो तो तुम जिन विचारों से बचना चाहते हो उन्हें न रोक सकोगे; उल्टे वे प्रबल होते जाएँगे और अन्त में तुम्हारे मन को पूरी तरह दबा देंगे।

(६) आध्यात्मिक उन्नति के लिए कुछ शारीरिक कठोरता नितान्त आवश्यक है। तुममें से जो ध्यान के उतने उत्सुक नहीं हैं, ऐसा कह सकते हैं, "उसे हम अगले जन्म के लिए छोड़ देते हैं", या "उस ओर हम कुछ साल बाद जाएँगे।" कई लोग सोचते हैं कि यौवन जीवन के उपभोग के लिए है; जब हम बूढ़े हो चलेंगे तब धर्म का अभ्यास शुरू करेंगे। दूसरे शब्दों में, जब संसार खट्टा हो चलेगा तब वे उतरी हुई सूरत लेकर मन्दिर या गिर्जे में जाएँगे और सोचेंगे कि उन्हें धर्म प्राप्त हो गया। वह धर्म नहीं है और हो भी नहीं सकता। उस समय हम भगवान् के पास क्या ले जाते हैं? एक जीर्ण शरीर और शीर्ण मन जो पूरी तरह जर्जर हो गया है। क्या सोचते हो कि भगवान इससे प्रसन्न होंगे? हम उनकी वेदी पर कीड़े पड़े फलों या कुम्हलाये फूलों को नहीं चढ़ाते, वहाँ तो निर्दोष और उत्कृष्ट वस्तुओं का समर्पण करते हैं। उसी प्रकार हमें चाहिए कि हम अपना जो कुछ सबसे श्रेष्ठ है उसे उनके चरणों में निवेदित करें। तेजस्वी और शुद्ध मन का नैवेद्य भगवान् को सबसे अधिक पसन्द है। जो धर्म को केवल बूढ़ों के लिए मानते हैं वे बहुत बड़ी भूल करते हैं। युवकों को विशेष रूप से आध्यात्मिक बनने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि यदि धार्मिक जीवन का शुभारम्भ पहले से कर दिया जाए, एवं जिन साधनों का उल्लेख मैंने किया है उनका अभ्यास मन के तेजवान और निर्मल रहते शुरू कर दिया जाए, तो मन की गतिविधियों पर कड़ी निगरानी रखते हुए साधक उसे दूषित होने से बचा सकता है। हमें किसी भी दशा में मन को सांसारिक भावनाओं के द्वारा प्रभावित नहीं होने देना चाहिए। यौवन इस दिशा में कार्य प्रारम्भ करने का सबसे उत्तम समय है।

श्रीरामकृष्ण ने एक समय कालेज के एक युवा छात्र से कहा था, "जब कुम्हार ईंट बनाता है तो उसे कच्चे रहते ही उस पर अपना 'ट्रेडमार्क' अंकित

कर देता है। उसके बाद जब ईंट को धूप में सुखा कर भट्टी में पका लिया जाता है तो वह मार्क अमिट हो जाता है। उसी प्रकार यदि मन के कच्चे रहतें उस पर भगवान् की छाप लगा लो तो वह छाप कभी नहीं मिटेगी, सदैव बनी रहेगी।''

(७) अब तक मैंने जिन बातों की चर्चा की है वे महत्त्वपूर्ण प्रारम्भिक बातें हैं। जीवन में प्रतिदिन उनका अभ्यास नितान्त आवश्यक है। केवल आध्यात्मिक साधना के प्रथम दिनों में ही उनका अभ्यास करके बन्द नहीं कर देना चाहिए। जो उनका नियमित रूप से यथारिति अभ्यास करता है वह अपने मन को पूरी तरह किसी भी वस्तु से हटा सकता है क्योंकि वह मन पर जबर्दस्त नियंत्रण प्राप्त कर लेता है। पर जब तक तुम इन अभ्यासों में पूरी तरह प्रतिष्ठित नहीं हो जाते तब तक ध्यान के समय मन के शान्त होने में कुछ समय लगेगा। यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है। यदि ध्यान के ठीक पहले तुम इधर-उधर दौड़ धूप करते रहो और बहुत सी बातें सोचते रहो तो सफलता की आशा कैसे कर सकते हो?

असल में, ध्यान में बैठने से कुछ पहले तुम्हें अपने आपको शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा अनुभव करने की कोशिश करो कि तुम्हारा संसार से कोई सम्बन्ध नहीं है, तुम्हें उससे न कुछ लेना है न देना। भले ही पति, पत्नी, माता, पिता, पुत्र या कन्या के रूप में तुम्हारे अनेकानेक कर्तव्य हैं और तुम्हें सैकड़ो बातों की ओर ध्यान देना है पर जब तुम भगवान की ओर जाओ तो ऐसा सोचो कि तुम्हारे लिए यह जगत् त्रिकाल में नहीं है। तुम्हारे पति, पत्नी, पिता, माता, मित्र, देश कुछ नहीं है। ध्यान की बेला में इसी प्रकार का चिन्तन अपेक्षित है।

शाश्वत का विचार मन में उठाते हुए ध्यान की ओर अग्रसर होओ। ध्यान में सर्वाधिक सफल कौन होता है। वह जो ध्यान के समय अपने को पूर्णरूपेण असंग अनुभव कर सकता है। इसका तात्पर्य समझे? शाश्वत की कल्पना का प्रयत्न करो। वह कालातीत है; फलस्वरूप समस्त घटनाओं से परे है। वह एक अवस्था है – यदि उसे अवस्था कह सके तो – ऐसी अवस्था

जिसमें इस सापेक्ष जगत की कोई वस्तु नहीं है। जब तुम उस शाश्वत प्रभु का चिन्तन करते हो तो उस समय तक के लिए समस्त सम्बन्धों से ऊपर उठ जाने का प्रयास करते हो। तुम्हें दृढ़तापूर्वक कहना चाहिए, "मेरे शरीर नहीं है, मन नहीं है। देश और काल मिट चुके हैं। सारा ब्रह्माण्ड लुप्त हो गया है। एकमात्र ईश्वर ही है।" तभी मन को वह सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त होगी जिससे वह ईश्वर के करुणामय अस्तित्व का अनुभव करने में समर्थ हो सकेगा। इस प्रकार ध्यान के स्थान में प्रवेश करने के पहले तुम्हें समस्त सांसारिक बातों को बाहर ही छोड़ देना चाहिए।

भारत के मठों में ऐसे कई संन्यासी हैं जो आध्यात्मिक नियमों का कड़ाई से पालन करते हैं। वे अपने पास आनेवाले आगन्तुकों को पत्नी, पति या बच्चों अथवा अन्य सांसारिक बातों की चर्चा नहीं करने देते हैं, भले ही वे बातें महत्त्वपूर्ण ही क्यों न हों। यह बात नहीं कि अपने कर्तव्यों का पालन करने वाले व्यक्ति को वे निरुत्साहित कर देते हों, पर बात यह है कि वे जानते हैं कि यदि मन को आध्यात्मिक होना है तो उसे शाश्वत के रंग में रंग जाना होगा। दिन में कोई समय ऐसा होना ही चाहिए जब तुम अपने आप को एकदम निरपेक्ष अनुभव करते हो, क्योंकि वैसा रहना ही तुम्हारा यथार्थ स्वभाव है। यद्यपि तुम अन्य लोगों से सम्बन्धित प्रतीत होते हो तथापि तुम जानते हो कि ये सम्बन्ध अस्थायी हैं। तुम्हारा असल स्वभाव निरपेक्ष है और ध्यान करते समय तुम्हें इस निरपेक्ष अवस्था में प्रवेश करना है।

(८) मैंने ऊपर जिन उपायों का उल्लेख किया है, यदि उनका पालन किया जाय, तो सचमुच कुछ ठोस आध्यात्मिक उन्नति की जा सकती है। पर यहाँ पर तुम्हें यह बता दूँ कि सारी आध्यात्मिक साधनाएँ, जिनमें ध्यान भी सम्मिलित है, एक बात पर निर्भर करती हैं : वह है सत्य-प्राप्ति के लिए उत्कट आग्रह। क्या तुममें ऐसा आग्रह है? तुम कह सकते हो, "मुझे तो ऐसा आग्रह नहीं लगता। तब भला ध्यान करने से क्या लाभ?" पर, क्या ऐसा आग्रह उत्पन्न करना असम्भव है? हम प्रयत्न करके भगवान् के

लिए मन की भूख को तेज कर सकते हैं। यदि मन में किसी भी प्रकार से भगवान् के लिए व्याकुलता लायी जा सके तो वह भावना अपने आप होने वाली व्याकुलता की तुलना में कोई कम सत्य नहीं होगी। यदि तुम स्वाभाविक रूप से इस आग्रह के जगने की राह देखते बैठे रहो तो हो सकता है वह कभी जगे ही नहीं। और चूँकि यह आग्रह, यह व्याकुलता, अनिवार्य है इसलिए उसको जगाओ। पहले-पहल तुम्हारा मन डाँवाडोल होगा। पर हताश न होना मन की इन अस्थिर भावनाओं से विचलित न होना और सर्वोपरि मन से हार न मान बैठना।

मान लो तुम एक लड़के हो और तुम्हारा पड़ौसी लड़का तुम्हें हरदम दबाने की कोशिश करता है। उसे ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं है और तुम जानते हो कि वह वास्तव में डरपोक है। ऐसी दशा में क्या करना उचित है? क्या तुम सोचकर कि "मैं तो कमजोर हूँ और उससे लड़ाई मोल लेना भी व्यर्थ है", उसकी धुड़की से दब जाओगे? नहीं, बल्कि तुम प्रयत्न करके अपने पौरुष को जगाओगे। तुम अपने आप से कहोगे, "मैं इसकी धुड़की से दबने वाला नहीं हूँ।" जब इसके बाद उससे सामना होगा तो तुम्हारी यह भावना भले ही कुछ कमजोर पड़े पर तुम उससे आँख से आँख मिलाने का साहस कर लोगे और अन्त में उसे चुनौती भी दे सकोगे। तुम्हारा पौरुष जाग उठेगा और तुम कहोगे, "यही मेरा स्वभाव है, मैं सचमुच बलवान हूँ।"

हम प्रतिक्षण इसी प्रकार कार्य करते हैं। कोई भी कौशल हस्तगत करने में अथवा विद्यालय में ज्ञानलाभ करने में हमें इसी प्रकार बारम्बार प्रयत्न करना पड़ता है। पहले तो जिसे हम पाने की कोशिश करते हैं वह हमारे लिए स्वाभाविक नहीं होता। पर एक बार अधिकृत हो जाने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वह हमारा अनिवार्य अंग है। आध्यात्मिक जीवन में यह बात और भी अधिक सत्य है। अत: उसी अनुपात में हमें प्रयत्न भी करना चाहिए। पहले पहल हर बात कठिन मालूम होती है और तुम कह उठते हो, "मेरा स्वभाव आखिर क्या है? धार्मिक तो दिखता नहीं। लगता है मेरे कपाल

में आध्यात्मिकता नहीं लिखी है।'' एक समय था जब मैं भी ऐसा ही सोचता था। किसी बाधा को बहुत बड़ा मान लेता था और उसको दूर करना एक असम्भव कार्य समझता था। ऐसी स्थिति में मैं अपने आप को सचेत किया करता था कि मैं असल में शरीर और मन तो हूँ ही नहीं, मैं तो आत्मा हूँ और अपने इस आध्यात्मिक स्वरूप की अनुभूति ही मेरा लक्ष्य है। मैं जानता था कि बाधा पर उसी समय विजय नहीं पायी गयी तो काम भविष्य के लिए टलता रहेगा; अत: तुरन्त प्रयत्न करके काम को खत्म ही क्यों न कर दिया जाय? मैं सत्यतापूर्वक कह सकता हूँ कि इस विचार को पकड़े रहना ही मेरा सौभाग्य रहा। यह सत्य है कि कभी-कभी इस प्रयत्न को त्याग देने का भी विचार मेरे मन में आता रहा पर मैं उस समय यही निश्चय करता था, ''अपने आध्यात्मिक लक्ष्य को तो मुझे प्राप्त करना है ही, अत: उसे अभी ही क्यों न पा लूँ।''

ध्यान के अभ्यास में तीव्र आकुलता और श्रद्धा बहुत महत्त्वपूर्ण अंग हैं। भगवान् में यदि दृढ़ विश्वास न हो और उन्हें पाने के लिए तीव्र व्याकुलता न रहे तो ध्यान में कोई उत्साह नहीं रह जाता, वह नीरस हो जाता है। जब अपने किसी कार्य में तुम्हारी रुचि नहीं रह जाती तो वह केवल औपचारिक हो जाता है और शीघ्र छूट भी जाता है।

यदि तुम सगुण ईश्वर में विश्वास करते हो तो उससे प्रार्थना करो। 'सगुण ईश्वर' से मेरा तात्पर्य 'देहधारी ईश्वर' से नहीं है पर ऐसे ईश्वर से है जो हमारा पिता है, माता है, मित्र और प्रभु है, जो इस जगत् का सर्वव्यापी स्रष्टा है, जो हमारी प्रार्थनाएँ सुनता है, जिसके पास हम उसी विश्वास से जा सकते हैं जिस सरल विश्वास से बच्चे अपने माता-पिता के पास जाते हैं। ऐसे सगुण ईश्वर में विश्वास और उसको प्यार करना ध्यान को तुम्हारे लिए सरल बना देता है। मन को अधिकाधिक ईश्वर चिन्तन में डुबाते रहो। सारे कार्य उसी के निमित्त करो। प्रत्येक विचार, प्रत्येक भावना और अपनी शक्ति के छोटे-से-छोटे अंश को ईश्वर में केन्द्रित करना ही आध्यात्मिक जीवन की सफलता का रहस्य है।

(९) यह किस प्रकार करोगे? जब बोलो तो ईश्वर के सम्बन्ध में बोलो। जब चलो तो उसके मन्दिर में जाओ। जब अपने हाथों से काम करो तो उसी की सेवा के निमित्त कुछ करो। शरीर और मन की हर क्रिया को, जैसा बने, ईश्वर की ओर मोड़ दो। यदि मन्दिर के बदले तुम्हें आफिस जाना पड़े तो अपने आफिस को ही भगवान् का मन्दिर बना लो। यदि तुम्हारा काम ईमानदारी का है तो यह किया जा सकता है। यदि तुम्हारा काम सच्चाई का नहीं है तो उसे बदल दो। यदि इस प्रकार काम को बदल देने से तुम्हें भूखों भी मरना पड़े तो भी तैयार रहो।

साहस, साहस। बस इसी की सदैव आवश्यकता है। यह न भूलना कि जिस भगवान् ने इस दुनिया को उपजाया है, वह अब भी इसके पीछे है और वह कभी हमें भूखों मरने न देगा। यदि हम सचमुच सत्यस्वरूप को पाना चाहते हैं, और इसीलिए जो भी गलत और असत्य है उसको त्यागना चाहते हैं तो निश्चित जानो कि उस सत्य की ओर जाने से हम कुछ खोएँगे नहीं। इसका मतलब यह नहीं कि सारी बातें हमारी इच्छानुसार होंगी, पर वे इस प्रकार होंगी कि हमें कष्ट कम और लाभ अधिक होगा।

यदि तुम्हारा पेशा सच्चाई का है तो निश्चित जानो कि तुम उसे ईश्वर निमित्त समझ सकते हो। चाहे तुम मेज पर बैठे हुए हो अथवा घर के काम में लगे हुए हो, ईश्वर का ध्यान करो। दिन भर तुमने जो कुछ किया वह ऊपर से भले ही ऐसा दिखे कि तुमने अपने नियोक्ता के लिए किया पर सब कुछ ईश्वरार्पित कर दो। क्या तुमने बीस चिट्ठियाँ टाइप की हैं और अधिकारी के पास हस्ताक्षर के लिए ले गए हो? कोई हर्ज नहीं, उसे उन पर हस्ताक्षर कर लेने दो। बाद में अपनी आँखों को बन्द कर लो और सब कुछ ईश्वरार्पित कर दो। इस प्रकार तुम अपने विचारों को एक नया मोड़ दोगे। काम करने का यह एक अलग ही तरीका है। पहले पहल यह तुम्हें कुछ अजीब सा लग सकता है पर इसे छोड़ो मत; इसमें लग जाओ। धीरे-धीरे इसका गहरा अर्थ तुम्हें स्पष्ट होता जाएगा और देखोगे कि तुमने प्रारम्भ में इस अभ्यास को जैसा समझा था वैसा वह नहीं है; वह तो अत्यन्त उपकारी

और फलप्रद है।

इस प्रकार जब भी हम दूसरों के लिए अथवा अपने निमित्त कुछ करते हैं तो ऐसा सोच सकते हैं कि हम प्रभु के निमित्त यह सब कर रहे हैं। तब जीवन की हर बात को आध्यात्मिक क्रिया में रूपान्तरित किया जा सकता है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो परिश्रमपूर्वक और समझबूझकर सब कुछ प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर के निमित्त करने में समर्थ होते हैं। कितने भाग्यवान हैं वे लोग! इसी प्रकार सौभाग्यशील बनने ही के लिए तो लोग लंबी चौड़ी पूजा उपासना करते हैं, बागों में फूल उपजाकर वेदी पर चढ़ाते हैं और धूप दीप जलाते हैं। हो सकता है तुम्हें ये सब बातें अच्छी न लगती हों पर और किस प्रकार तुम दिन का समय बिताओगे? देखो न, इस क्षुद्र अहं की सेवा में किस प्रकार समय और शक्ति का अपव्यय हो रहा है। अतः क्या यह उत्तम न होगा कि तुम जो कुछ करते हो उसे ईश्वर को समर्पित कर दो? इसी भावना से कर्मकाण्ड और क्रिया-अनुष्ठानों की उत्पत्ति हुई है; इसी से संसार भर में मन्दिर और गिरजे बने हैं जहाँ लोग पूजा के निमित्त चढ़ावा लेकर जाते हैं।

इसका मतलब यह नहीं कि मैं सबको इस प्रकार के कर्मकाण्ड में लगने का आग्रह कर रहा हूँ। प्रत्येक को अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति के अनुरूप उपासना करनी चाहिए। पर किसी न किसी प्रकार तुम्हें यह तो आविष्कार करना ही पड़ेगा कि अपने विचारों, अपनी भावनाओं और क्रियाओं को ईश्वर की सेवा में कैसे लगाया जाय। जितना ही अधिक तुम ऐसा कर सकोगे, ईश्वर के उतने ही निकट आते जाओगे। उस समय, जब तुम ध्यान में बैठोगे, देखोगे कि शेष सब कुछ विस्मृत हो जाएगा और हृदय केवल ईश्वर से ही परिपूर्ण होगा।

(१०) सम्भवतः तुम तर्क और युक्ति द्वारा आध्यात्मिक सत्यों को धारण करने के आदी हो। पर मैं कहूँगा कि जब तक तुमने इन सत्यों की स्वयं अनुभूति नहीं कर ली है तब तक तुम्हारे लिए सबसे सौभाग्य का विषय यह होगा कि किसी ऐसे व्यक्ति के दर्शन हों जिसने इन सत्यों की उपलब्धि

की है। आध्यात्मिक सत्य युक्ति, तर्क या किसी बाहरी प्रदर्शन से सिद्ध नहीं किये जा सकते। जिसने उन सत्यों का प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है, उसके शब्दों में ही वह शक्ति है जिससे वे सत्य प्रमाणित किये जा सकते हैं। भले ही दूसरे लोग मुझसे सहमत न हों पर मेरे अनुसार यही एक ऐसा बाहरी प्रमाण है जिस पर विश्वास किया जा सकता है।

यदि इस प्रकार आध्यात्मिक अनुभूति सम्पन्न कोई व्यक्ति मुझसे कहते हैं, "मेरे बेटे, तुम वास्तव में यह शरीर और मन नहीं हो, आत्मा ही तुम्हारा यथार्थ स्वरूप है; अमर और शाश्वत सत्ता ही तुम्हारा सत्य है; अस्थिर और क्षण-क्षण परिवर्तनशील बातें तुम्हारी अपनी नहीं है; गहराईयों में पैठने की कोशिश करो; अपने यथार्थ स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न करो," – तो उनकी यह वाणी मुझ पर बलपूर्वक अधिकार कर लेगी और मैं तदनुसार कार्य करने को विवश हो जाऊँगा। उनके कहने के साथ ही साथ, उनकी वाणी में ऐसा कुछ होगा जो मेरे हृदय की गहराइयों में पैठता चला जाएगा; मैं उसका प्रतिरोध नहीं कर सकूँगा।

प्रभु से मेरी यही प्रार्थना है कि तुम सबको ऐसे व्यक्ति प्राप्त हों जिनके मुख से इसी भाँति अनुभूतिमयी वाणी निःसृत हो। तब तुम उनके शब्दों पर सन्देह नहीं कर सकोगे, उनकी उपेक्षा नहीं कर सकोगे। तब अपने सत्यस्वरूप और उदात्त लक्ष्य के प्रति निष्ठा तुममें परिपक्व होने लगेगी। हो सकता है, कभी-कभी विफलता तुममें निराशा भर दे पर अन्त में निराशा को झटक कर तुम कह सकोगे, "ठीक है, एक बार फिर प्रयत्न कर देखूँ।" और सफलता तुम्हारे हाथ लगेगी।

अब मैंने तुम्हें बता दिया है कि ध्यान में बैठने से पूर्व हमें क्या करना चाहिए। जिन विभिन्न उपायों की मैंने चर्चा की है उनकी सहायता से तुम अपने मन को सतत् ईश्वर के निकट ले जा सकते हो। अन्त में कुछ बातों पर जोर दे दूँ : जो भी काम तुम्हें करना है, करो; पर उसे ईश्वर की ओर मोड़ दो। इससे तुम्हारा मन विचलित नहीं होगा। निरपेक्ष बनो। अपने को शाश्वत के साथ एकरूप देखो; इससे ध्यान सुगम हो जाएगा। मन को भटकने

न दो अन्यथा सांसारिक भावनाएँ उसमें घुसकर छा जाएँगी, – ऐसा कदापि न होने दो। ध्यान में बैठने से पूर्व उन सब बातों पर विचार करो जिनकी चर्चा मैंने की है।

जब बाहर की कोई बात मन में नहीं घुसेगी तब वह धीरे-धीरे शान्त हो जाएगा। और तब तुम अपने हृदय-मन्दिर में चिन्मय विग्रह प्रभु के दर्शन करोगे। उस पर ध्यान करो। देखोगे, वह अधिकाधिक सौन्दर्य-मण्डित होता जाएगा और सौन्दर्य के उस अनन्त सागर में डूबकर तुम सब कुछ भूल जाओगे। अन्त में तुम ईश्वर में पूरी तरह निमग्न हो जाओगे।

□□□

(३)

ध्यानयोग

स्वामी घनानन्द

वेदों में श्रवण, मनन और निदिध्यासन की बात कही गयी है। श्रवण का अर्थ, केवल पुस्तकों के माध्यम से ही नहीं बल्कि किसी सन्त की जीवन्त वाणी से सत्य का सुनना है। मनन का अर्थ है, उस सत्य का चिन्तन और निदिध्यासन याने ध्यान। गहरा भगवच्चिन्तन ही ध्यान है। यह सत्य है कि रेखागणित, परमाणु विस्फोट, विज्ञान आदि कई विषयों का ध्यान किया जा सकता है लेकिन यहाँ हम सर्वत्र निदिध्यासन शब्द का प्रयोग गहरे भगवच्चिन्तन के अर्थ में ही करेंगे।

अब, तुम देखोगे कि सभी धर्मों में मन को भगवान् पर अथवा चरम सत्ता पर एकाग्र करने का प्रयत्न किया गया है। व्यक्ति जब किसी वस्तु का चिन्तन करता है तो वह मानसिक रूप से उसके निकट पहुँच जाता है। इसके बाद एक अवस्था ऐसी आती है जब वह वस्तु उसके मन, हृदय और आत्मा में प्रवेश कर जाती है। और तृतीय अवस्था में सम्भवत: वह उस वस्तु के साथ कुछ मात्रा में एकत्व का अनुभव करने लगता है। ये सारी अवस्थाएँ आध्यात्मिक चिन्तन में भी होती हैं। पहली अवस्था में भगवान् हमें अपने निकट और हम अपने को उनके निकट अनुभव करते हैं। इसके बाद दूसरी अवस्था में भगवान हमारे भीतर और हम उनके भीतर हैं ऐसा बोध होता है। और बहुत कम लोग आध्यात्मिक चिन्तन और अनुभूति की अन्तिम अवस्था, चरम अवस्था, तक पहुँच पाते हैं, जहाँ 'मैं ईश्वर हूँ' और 'ईश्वर

मैं हूँ' – ऐसा साक्षात्कार होता है। इस एकत्व की अनुभूति में मानव का देहात्मबोध विलुप्त हो जाता है। वह परम सत्ता में विलीन हो जाता है और भूल जाता है कि वह एक जीव है तथा उसकी कोई पृथक् सत्ता भी है। दूसरे शब्दों में, मानव की चरमतम दीनता के फलस्वरूप भगवद् साक्षात्कार की यह अवस्था प्राप्त होती है।

ध्यान का प्रयत्न करने वाले प्राय: शिकायत करते हैं कि कुछ मिनटों बाद मन भटकने लगता है। वे ध्यान करने बैठते हैं और पाते हैं कि आठ-दस मिनट बाद मन भटक गया है। वे स्थिर नहीं बैठ पाते और देह के अस्थिर होने के कारण मन भी अस्थिर हो जाता है। उसके बाद साधक ध्यान का आसन त्याग कर यह कहते हुए उठ जाता है कि वह मन को एकाग्र नहीं कर सकता। (वस्तुतः) ध्यान के अभ्यास के पूर्व कुछ प्रारम्भिक तैयारियाँ करनी पड़ती हैं और अगर वे न की जाएँ तो प्राय: मन एकाग्र नहीं हो पाता। योग के महान् विशेषज्ञ पतञ्जलि ने, जो मेरी मान्यतानुसार बुद्ध के समकालीन थे, चित्त एकाग्र करने के पूर्व की अनेक शर्तों का वर्णन किया है। वे 'राजयोग' नामक साधन-पद्धति के आठ अंगों में वर्णित हैं।

प्रथम अंग यम कहलाता है जिसके अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आते हैं। अपरिग्रह, अर्थात् किसी से भेंट स्वीकार नहीं करना, के पीछे भाव यह है कि भेंट स्वीकार करने वाले के मन पर देने वाले के मन का प्रभाव पड़ता है। भेंट स्वीकारने से दाता के प्रति अहसान महसूस होने के कारण साधक की स्वाधीनता नष्ट होने की संभावना रहती है। पतंजलि ने यहाँ, तथा अपने शास्त्र में अन्यत्र भी इस पद्धति के विज्ञान का वर्णन किया है। राजयोग की सफल साधना के लिए सभी शर्तों का पालन परिस्थितियों तथा साधक की क्षमता पर निर्भर करता है। सच्चे प्रेम के प्रतीक के रूप में दी गयी भेंट सामान्यत: न्यूनाधिक मात्रा में अहानिकर मानी जा सकती है।

दूसरा अंग है नियम। इसके अन्तर्गत शारीरिक शौच और चित्तशुद्धि, संतोष, देह और मन को क्षीण करने वाले अतिवर्जित तप, अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन और ईश्वरप्रणिधान आते हैं। संतोष का अर्थ है, जीवन में अपनी

स्थिति को ईर्ष्या और चञ्चलता के बिना संतोषपूर्वक स्वीकार करना। इसका अर्थ विपत्ति में पड़े लोगों की दुर्गति के प्रति संतुष्ट रहना नहीं है।

इसके बाद है आसन। आपके देश इंग्लेण्ड में योग से सामान्यतः हठयोग के नाम से परिचित शारीरिक व्यायामों को समझा जाता है। पतञ्जलि केवल स्थिर सुखमय शारीरिक आसन की बात करते हैं। उनके इस एक स्पष्ट निर्देश से बहुत से आसनों का विकास हुआ, जिनका अभ्यास भारत में लोग करने लगे और जो अब सारे विश्व में प्रसारित हो गये हैं। पतञ्जलि की रुचि केवल ध्यानोपयोगी आसन में थी। ऐसा आसन आसान और स्थिर होना चाहिये जिससे प्रारम्भ में कम से कम आधा घण्टा और बाद में ४५ मिनटों या अधिक समय तक ध्यान में बैठा जा सके। तुम्हें एक बार सुबह और एक बार शाम को भोजन करने से पूर्व ध्यान में बैठने का प्रयत्न करना चाहिये। पेटभर खाने के दो घण्टे या उससे अधिक समय बाद ही ध्यान का प्रयास करना चाहिये। बैठते समय रीढ़ की हड्डी सीधी और सिर भी सीधा होना चाहिये। मांसपेशियाँ तनी न हों। यदि जमीन पर पालथी मारकर बैठने की आदत न हो तो कुर्सी पर बैठना चाहिये और सीधे रहने के लिए पैरों को कुर्सी के नीचे समेट रखना चाहिये।

रामकृष्ण मिशन के, जिसका कि मुझे सदस्य होने का सौभाग्य है, एक अत्यन्त वरिष्ठ संन्यासी कहा करते थे कि सत्यपालन और मंत्रजप ही ध्यान में सफलता हेतु पर्याप्त हैं। लेकिन मुझे यह भी जोड़ देना चाहिये कि उन्होंने ब्रह्मचर्य की अनिवार्यता को पहले ही से मान रखा था।

आसन के बाद प्राणायाम आता है। प्राणायाम द्वारा हम देह-मन-संयंत्र में विद्यमान प्राणशक्ति का नियमन करते हैं। यही एक शक्ति पृथ्वी को घुमाती, फेफड़ों को चलाती, और हृदय को स्पन्दित करती है। इसी एक सार्वभौमिक शक्ति की हमारी व्यक्तिगत देह में और मनों में सीमित अभिव्यक्तियाँ पायी जाती हैं। जिस प्रकार एक विद्युतीय गोले या बल्ब में विद्यमान विद्युत-तरंग दूसरे गोले में विद्यमान तरंग से भिन्न नहीं है उसी प्रकार यह शक्ति भी विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न नहीं है।

योग का लक्ष्य मानव को संसार में विद्यमान इस प्राणशक्ति का नियमन करना सिखाना है। अत: प्राणायाम श्वास-प्रश्वास का नियमन नहीं, अपितु उस प्राणशक्ति का नियमन है जो देह को प्राणवन्त करती है। प्राण के देह-मन-संयंत्र से निकल जाने पर हृदय गति रुक जाती है, श्वास बन्द हो जाती है और हम कहते हैं कि आदमी मर गया है। यहाँ इंग्लेण्ड में लोग कहते हैं, "उसने आत्मा त्याग दी", लेकिन हम हिन्दुओं का भाव यह है कि आत्मा उसे त्याग देती है, याने सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर को त्याग देता है। यदि प्राणायाम का अभ्यास करना ही हो तो उसे सही तरीके से करना चाहिये। केवल पुस्तकों से पढ़कर करने के बजाय उसे किसी (योग्य) गुरु से सीखकर करना उचित है।

प्राणायाम के बाद प्रत्याहार आता है। प्रत्याहार का अर्थ है, मन की बिखरी हुई शक्तियों को समेटना। मान लो तुम किराने की दूकान से सरसों के दानों की एक पुड़िया खरीदो और खोल दो या गलती से वह पुड़िया खुल जावे और दाने बिखर जावें। तब उन सरसों के दानों को कैसे समेटोगे? उन्हें झाड़ू से एक स्थान पर इकट्ठा करना पड़ेगा और तब सम्भवत: एक एक करके उन्हें बीनना होगा। वयस्कों के मन की सामान्यत: यही अवस्था होती है। कम उम्र में युवक के मन और हृदय किये जा रहे कार्य-विशेष में तल्लीन हो जाते हैं। लेकिन विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए व्यक्ति का आधा मन और हृदय पत्नी में चला जाता है और आधा सांसारिक क्रिया कलापों के लिए बचा रहता है। सन्तान का जन्म होने पर उसके मन और हृदय का कुछ भाग उसमें चला जाता है। इसी प्रकार मन बिखरता जाता है। फिर बैंक में खाता भी खोलना होता है और पर्याप्त रुपया भी जमा रखना पड़ता है। मित्रों के बीच उसे अपनी साख बनाये रखनी पड़ती हैं। इस तरह उसकी ऊर्जा बिखर जाती है और मन विक्षिप्त हो जाता हैं। तब फिर वह मन को भगवान् की ओर कैसे लगावे? यह बहुत कठिन लगता है। मानव मन पर दो शक्तियाँ कार्यरत हैं; एक जो उसे अन्तर्मुखी करती है और दूसरी जो उसे बहिर्मुखी बनाती है। मन को अन्तर्मुखी करना ही प्रत्याहार है और ध्यान के लिए बैठने पर प्रारम्भिक अवस्था

में साधक यही प्रयत्न करता है।

धारणा, अर्थात् किसी एक स्थान पर मन को स्थिर करना, योग का छठा अंग है। यदि ईश्वर ध्यान का विषय हो तो धारणा में ईश्वर को जगत् का स्रष्टा मानकर उन पर मन को एकाग्र किया जाता है। योग में ध्यान के विषय या प्रत्यय की मनुष्य के भीतर धारणा की जाती है। अवश्य, देह से बाहर भगवान् की कल्पना से भी ध्यान द्वारा बहुत लाभ होता है, लेकिन योग में देह के भीतर भगवान् के ध्यान को महत्त्व दिया गया है। ईसा मसीह ने हमें 'स्वर्गस्थ पिता' से प्रार्थना करने का उपदेश दिया है मानो स्वर्ग हमसे दूर कोई स्थान हो, लेकिन उनका उच्चतर उपदेश है, "स्वर्ग का राज्य तुम्हारे भीतर है।" अंग्रेज कवि ब्राउनिंग की कविता 'पिप्पा पासेस' में पिप्पा गाता है, "स्वर्ग में है ईश्वर, ठीक है संसार।" लेकिन मुझे भय है कि ईश्वर के स्वर्ग में होते हुए भी संसार में बहुत सी समस्याएँ हैं। इसका कारण यह है कि ईश्वर संसार के चार सौ करोड़ लोगों के हृदय में प्रविष्ट नहीं हुआ है। यदि वह मानव के हृदय में प्रवेश करता तो मानव का रूपान्तरण हो जाता। तब वह योग होता।

मान लो, कोई व्यक्ति ईसा मसीह का ध्यान करता है अथवा बहुत श्रद्धा भक्ति के साथ ईसा की माता मेरी का चिन्तन करता है। परन्तु योग प्रतिपादित ध्यान की प्रणाली में स्थूल व्यक्तित्व तथा ईसा और मेरी के जीवन की ऐतिहासिक घटनाओं के चिन्तन की कोई उपयोगिता नहीं है। साधक को इन सभी को भेदकर गहराई में जाना होगा। उसका मन एक बिन्दु पर एकाग्र होना चाहिये। इस जगत के बारे में सोचने से कोई लाभ नहीं है। वह सब बाद में भी सोचा जा सकता है। अपनी अन्तरतम सत्ता तक, जिसे हम आत्मा कहते हैं, पहुँचने के प्रयास में जब वह अपने आप में गहरे पैठता है तब वह अन्य बातों के बारे में नहीं सोच सकता।

योगासन अच्छे हैं लेकिन पर्याप्त नहीं हैं। योग का निर्देश है कि ईश्वर, परमसत्ता, या जिस किसी पर तुम अपने मन को एकाग्र करो, उसे आध्यात्मिक याने अपने भीतर सोचना चाहिये। इस सन्दर्भ में योग में चेतना के सात

स्तरों या चक्रों का उल्लेख है। ऐसा कहा जाता है कि हृदय-चक्र में ध्यान करना चाहिये। इससे स्थूल हृत्पिण्ड नहीं समझना चाहिये। इसका तात्पर्य मानसिक अथवा आध्यात्मिक हृदय से है, जो शरीर के भीतर तथा हृदय और पेट के बीच के दबे हुए भाग से लगभग एक इंच ऊपर होता है। वहाँ पर साधक ईश्वरावतार् को अथवा किसी महान् आचार्य को अथवा ईश्वर के किसी प्रतीक या प्रतिमा को, जिस किसी का भी वह ध्यान करेगा, प्रतिष्ठित करता है। इससे मन में परिवर्तन आएगा। जब मन हृदय के नीचे वाले तीन चक्रों में विचरण करता रहता है तब तक उसे कोई लाभ नहीं होता। हृदय चक्र से आध्यात्मिक चिन्तन प्रारम्भ होता है।

कुछ लोग कहते हैं कि भगवच्चिन्तन करने से उनका मन ऊपर की ओर जाता है। यह अच्छा है, लेकिन इसे स्वाभाविक रूप से और अभ्यास के फलस्वरूप होना चाहिये, भ्रूमध्य में ध्यान करना चाहिये ऐसा सोचने मात्र से नहीं होना चाहिये। यदि तुम हृदय चक्र में सफलतापूर्वक ध्यान कर सको तो अन्य चक्र ठीक समय पर खुल जाएँगे। गुलाब का पौधा रोपा जा सकता है लेकिन उसे जल्दबाजी से पुष्पित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार ध्यान में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिये; बलपूर्वक कुछ घटाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये।

हृदय चक्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ऐसा कहा जाता है कि हृदय चक्र में एक अष्टदल कमल है। ध्यान के पूर्व वह बन्द पंखुड़ियों वाली और झुकी हुई कली के रूप में होता है लेकिन ध्यान के समय वह पूर्ण प्रस्फुटित और खड़ा हो जाता है। ऐसी कल्पना की जाती है कि कमल खिला हुआ है, उसके बीच में सूर्य है, उसके अन्दर चन्द्रमा और उसमें अग्नि। इस अग्नि में ध्यान का विषय प्रतिष्ठित किया जाता है। जैसे, मान लो श्रीकृष्ण हमारे इष्ट हैं तो हम उनकी उस अग्नि के बीच बैठे हुए कल्पना करते हैं। सूर्य को कमल में रखने से कमल की पंखुड़ियाँ जल नहीं जातीं क्योंकि सूर्य और कमल दोनों ही आध्यात्मिक हैं।

साधना की प्रारम्भिक अवस्था में परमात्मा का रूप धारण किये हुए

ध्यान करना उचित है। प्रथम है, रूप-ध्यान। उनका प्राय: मानवीय रूप में ध्यान किया जाता है। इसके बाद भगवान् के सगुण-निराकार रूप का ध्यान किया जाता है और अन्त में निर्गुण-निराकार, अनन्त विशुद्ध चैतन्य का ध्यान किया जाता है। ध्यान की यही क्रमिक पद्धति है। आध्यात्मिक जीवन और अनुभूतियों के ये तीन स्तर हैं और यह सभी के लिए हैं। अपने भीतर, हृदय में, भगवान् के रूप-ध्यान से प्रारम्भ कर प्रत्यक्ष अनुभूति पर्यन्त साधना की जानी चाहिये।

ईश्वर के साकार और निराकार पक्ष एक ही सिक्के के दो पहलुओं के समान हैं। अगर तुम पीछे के अंकनों के बिना केवल एक ओर की अशोक चक्र की मुद्रा वाला सिक्का चाहो तो तुम्हें अशोक चक्र की तरफ वाला सिक्का भी नहीं मिलेगा क्योंकि केवल एक ओर वाला सिक्का हो ही नहीं सकता। निराकार ईश्वर साकार का आधार है। सागर का दृष्टान्त इस विषय में उपयुक्त है। सागर के रूप में जल का एक प्रकार से कोई आकार नहीं है लेकिन लहरों के रूप में जल का आकार है – लहरों का आकार। महान् आचार्यगण सागर के वक्ष पर लहरों के समान हैं। ऐसे आचार्य बिरले होते हैं। अनादि काल से धर्म और दर्शन विषयक जो ज्ञान, विचार, उपदेश और आदर्श हमें प्राप्त हुए हैं, उनके मूल में केवल कोई आधा दर्जन जगदाचार्य ही हैं : पाश्चात्य देशों में ईसा मसीह, भारत में कृष्ण और कुछ अन्य, तथा मूसा, बुद्ध एवं संभवत: कन्फ्यूशियस; कुल मिलाकर बहुत कम ही होते हैं। इनकी गिनती हाथ की अंगुलियों पर की जा सकती है। उनका विचार करते ही उनके आदर्श मन में आ जाते हैं।

ध्यान का प्रारम्भ साकार ईश्वर के ध्यान से किया जाता है। लेकिन कुछ शक्तिशाली मन वाले साधक निराकार से ही प्रारम्भ कर सकते हैं। सामान्यत: वे सगुण निराकार का ध्यान करते हैं। ईश्वर के गुणों का ध्यान कैसे किया जाय? ईश्वर ने किसी प्रकार एक रूप – विशेष धारण किया है, यह धारणा किये बिना उसके गुणों का चिन्तन कठिन है। अत: हम कहते हैं कि रूप से प्रारम्भ करना अच्छा है; उसमें कोई दोष नहीं है, लेकिन

आगे बढ़ते हुए निराकार तक पहुँचो। बाह्य जगत में विचरणशील मन शनैः शनैः केन्द्रित किया जाता है और निष्ठापूर्वक ध्यान की गहराई में प्रवेश करता है। महीनों और वर्षों के ध्यानाभ्यास से जगत् की सृष्टा, मूला प्रकृति, पर ध्यान करने की क्षमता प्राप्त होती है। तब अहंकार भगवान् की इस शक्ति, मूला प्रकृति, के साथ संयुक्त हो जाता है।

वर्षों की साधना के बाद अहंकार को, सीमित व्यक्तित्व को, विस्मृत करने का प्रयत्न किया जाता है। अंततोगत्वा अहंकार का अतिक्रमण होगा। अहंकार नष्ट नहीं होता, उससे परे जाया जाता है। उसका अतिक्रमण होता है। योगी द्वारा प्राप्तव्य परमात्मसत्ता में अहंबोध नहीं होता। परमात्मा को एक मानना पर्याप्त नहीं है क्योंकि एक के साथ उसका विपरीत अनेक, अद्वैत का विपरीत द्वैत होगा ही। अतः अनन्त परमात्मा का सबसे त्रुटिहीन वर्णन यह कहना होगा कि 'वह क्या नहीं है?' संस्कृत में इसे 'नेति, नेति' याने 'यह नहीं, यह नहीं' कहते हैं।

धारणा के बाद ध्यान है। ध्यान अत्यन्त कठिन है। वह समाधि या अतिचेतनावस्था के ठीक पहले की अवस्था है। समाधि मानव को प्रकाशित करने वाली चैतन्य ज्योति की, मनातीत शान्ति की उच्चतम अवस्था है। ध्यान की उपमा एक पात्र से दूसरे पात्र में ढाली जा रही निरवच्छिन्न तैलधारा से दी गई है। मन के, ध्यान के विषय की ओर २४ मिनट निरवच्छिन्न रूप से प्रवाहित होने पर समाधि होती है। पिछली शताब्दी में भारत में एक महान् आचार्य (श्रीरामकृष्ण) हो गये हैं जिनका देहावसान सन् १८८६ में हुआ। उनका कथन है कि उस अवस्था (समाधि) में २१ दिन से अधिक रहना अत्यन्त कठिन है। २१ दिन से अधिक होने पर देहत्याग हो जाता है। लेकिन वे स्वयं उस अवस्था में लगातार ६ महीने तक रह सके थे। यह एक चमत्कार था। इस अवस्था में अहंकार नहीं रहता।

इस प्रकार गहरे ध्यान के बाद योग की अन्तिम अवस्था समाधि या अतिचेतनावस्था होती है। दो प्रकार की समाधियाँ होती हैं : एक में चेतना में प्रत्यय बना रहता है। परमात्मा स्वयं वह प्रत्यय है और तुम उसके साथ

तादात्म्य स्थापित करते हो। एक दूसरी समाधि होती है जिसमें कोई प्रत्यय नहीं होता। केवल विशुद्ध चैतन्य सत्ता मात्र रहती है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

अचेतन मन को क्रमशः शुद्ध करना आवश्यक है और इसके लिए मंत्र का जप बहुत उपयोगी है। मंत्र चेतन स्तर से अचेतन में पैठता है और वहाँ प्रभावशाली होता है। तुम यह नहीं जान पाते कि वह कैसे कार्य करता है। मंत्र का लगभग एक हजार बार जप प्रातः और सन्ध्या करना चाहिये और उसके बाद ध्यान का प्रयत्न करना चाहिये। मंत्र का जप ध्यान के लिए मन को तैयार करता है। जितना अधिक जप करो उतना अच्छा है। सोते समय सौ बार जप करो और उसके बाद भगवान् की गोद में सिर रख कर सोओ। वे तुम्हारे पिता और माता हैं। भगवान् को अपनी माता समझने में कोई दोष नहीं है। हम सामान्यतः ऐसा करते हैं क्योंकि माँ पिता की अपेक्षा हमारे अधिक निकट होती है। पिता गलती करने पर कान खींच सकते है लेकिन माँ नहीं खींचेगी।

ऐसा चिन्तन करके सोते समय मंत्र का जप करने से कुछ समय बाद तुम देखोगे कि तुम सुबह मंत्र का जप करते हुए उठ रहे हो। सोने से ठीक पहले जो विचार तुम्हारे मन मे सर्वोपरि होगा वही सुबह सबसे पहले मन में उठेगा। ऐसा इसलिए होता है कि मंत्र रात को अचेतन मन में काम करता रहा था। जागने पर वह चेतन मन पर उठ आता है। मंत्र अचेतन मन में विचरण करता हुआ उसे पवित्र कर देता है। वह धीरे-धीरे मानव में परिवर्तन लाता है।

योग एक संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ है 'जोड़ना'। शब्दकोश में योग शब्द के कम से कम और सत्रह अर्थ हैं। लेकिन मुख्य अर्थ सदा एक ही रहा है, अर्थात्, ईश्वर के साथ संयोग। योग एक विज्ञान है, वह एक व्यावहारिक मनोविज्ञान पद्धति है। यह जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने का एक उपाय ही नहीं है, अपितु इसके द्वारा कोई भी सांसारिक कार्य बड़ी तत्परता के साथ तथा दूसरों का महत्कल्याण करते हुए किया जा सकता है।

□□□

(४)

ध्यान के पाठ

स्वामी ज्ञानेश्वरानन्द

तनाव-निवृत्ति :

भारतीय इतिहास के आदिकाल से हिन्दू आर्य जाति ने मानव की आध्यात्मिक क्षमताओं के विकास और संस्कार को बहुत महत्त्व दिया है। दीर्घकालीन अनुभव और प्रयोगों के द्वारा उन्होंने इन क्षमताओं की बलवृद्धि और पवित्रता के लिए कुछ क्रियाओं की एक विशेष पद्धति का विकास किया। मानव देह का निर्माण विभिन्न कोशों के द्वारा हुआ है – इस मौलिक सिद्धान्त की प्रतिष्ठा कर उन्होंने इन कोशों की पुष्टि, विश्राम और उन्हें जीवन्त बनाने के अनेक उपायों का आविष्कार किया।

स्थूल शरीर समस्त शक्तियों और पूर्णता की संभावना से युक्त सूक्ष्म-शरीर का बाह्य आवरण है। जिस प्रकार स्थूल शरीर को आहार, विश्राम, व्यायाम तथा विकास हेतु कुछ अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर को भी होती है। इस मन-प्रधान सूक्ष्म या आध्यात्मिक शरीर के विकास, व्यायाम एवं विश्राम के लिए और उसे पुनरुज्जीवित करने के लिए हमने क्या व्यवस्था की है? यह बड़े खेद की बात है कि हम अपने स्थूल-शरीर को सुधारने में तो व्यस्त हैं लेकिन हमने इस सूक्ष्म-शरीर को लगभग भूखा ही मार डाला है जिसका यदि सावधानीपूर्वक पालन-पोषण किया जाए तो शारीरिक और आध्यात्मिक स्तर पर हम अद्भुत फल प्राप्त

कर सकते हैं।

भारत में ध्यान के विज्ञान का विकास मन को समुचित आहार, उचित व्यायाम और विश्राम तथा उसे विकास के लिए आवश्यक परिवेश प्रदान करने के उद्देश्य से हुआ था। अत: ध्यान को, मन को उसकी सर्वोच्च सम्भावना अर्थात् पूर्णता की अभिव्यक्ती के लिए सहायक परिवेश प्रदान करने वाले विज्ञान की संज्ञा दी जा सकती है।

इस समानता को समझने का प्रयत्न करें। देह के लिए आहार का सामान्य नियम यह है कि चयापचय या मेटाबोलिजम की प्रक्रिया के दौरान कुछ खर्च होता है, कुछ व्यर्थ चला जाता है, जिसको किसी प्राकृतिक भण्डार से प्राप्त कर पुन: भरना पड़ता है। हम दिन भर में कुछ तत्त्वों और पौष्टिक पदार्थों को अपनी विभिन्न क्रियाओं के दौरान खर्च करते हैं, जिसकी पूर्ति के लिए भोजन करते हैं। लेकिन खाया गया भोजन ही देह का एकमात्र आहार नहीं है। उसकी पुष्टि और विकास के लिए पाँचों इन्द्रियाँ भी आहरण कर रहीं हैं। हम जानते हैं कि भोजन के चयन में हमें बहुत सावधानी बरतनी पड़ती है क्योंकि आहार हानिकारक और लाभप्रद दोनों हो सकता है। मानसिक ऊर्जा के परिपूरण के लिए भी हम स्वाभाविक ही विभिन्न बाह्य स्रोतों से आहार लेते हैं। ध्यान की एक विशेष पद्धति है जिसके द्वारा हम बिना किसी खर्च के अबाध रूप से आध्यात्मिक आहार प्रदान करने वाले इन सूक्ष्म स्रोतों के साथ सतत् संपर्क बनाये रखने की शक्ति प्राप्त कर सकते हैं। ध्यान की इस पद्धति का विवेचन हम बाद में करेंगे। यहाँ इतना जानना ही पर्याप्त है कि अपने भौतिक आहार के चयन में हम जिन बातों का ध्यान रखते हैं उनका आध्यात्मिक आहार की प्राप्ति में भी ध्यान रखना चाहिए।

इसके बाद है – मन को आवश्यक व्यायाम प्रदान करना। हम सभी जानते हैं कि व्यायाम के अभाव में हमारी मांसपेशियाँ और स्नायुओं का ह्रास होता है और वे दुर्बल हो जाते हैं, जबकि नियमित व्यायाम से उनकी शक्ति और सामर्थ्य की मात्रा का अनन्त गुणा विकास किया जा सकता है। असाधारण शारीरिक शक्ति वाले मनुष्यों और खिलाडियों ने यह सिद्ध किया

है कि उचित व्यायाम से मांसपेशियों की शक्ति एवं अन्य शारीरिक क्षमताओं की दक्षता को इच्छानुरूप बढ़ाया जा सकता है। एक किसान की कथा है जो अपने प्यारे छोटे-से बछड़े को उठाकर एक सरिता पार करता था। ऐसा वह प्रतिदिन करता था। धीरे-धीरे बछड़ा बड़ा हो गया। लेकिन उसकी शारीरिक वृद्धि का किसान को भान नहीं हुआ और वह उसे उसी तरह उठाकर ले जाता रहा। उसका ध्यान इस ओर दिलाने पर उसने पाया कि वह तो एक पूर्ण विकसित साण्ड को आसानी से उठाने लगा था! कहानी होते हुए भी यह इस बात को दर्शाती है कि किसप्रकार धीरे धीरे व्यायाम के द्वारा मांसपेशियों की शक्ति अविश्वसनीय मात्रा तक बढ़ाई जा सकती है।

भारत में मैंने शारीरिक बल के आश्चर्यजनक करतब देखे हैं। मैं एक व्यक्ति को जानता था जो रस्सियों द्वारा पूरी रफ्तार से चल रहे रेल के दो इंजिनों को रोक सकता था। वही व्यक्ति अपने सीने पर रखे एक तख्ते के ऊपर हाथी को चढ़ा सकता था। मुझे उसकी इस भीम जैसी शक्ति के विकास के विषय में पूछने का अवसर मिला था और उसने बड़े विश्वसनीय उत्तर दिये थे। उसने कहा कि नियमित अभ्यास और विकास के अपने लक्ष्य की अत्यन्त स्पष्ट कल्पना द्वारा वह ऐसी आश्चर्य जनक शक्ति प्राप्त कर सका था। उसके बाद उसने बड़े सरल, विनम्र, अहंकार रहित शब्दों में कहा कि पंजाब मेल को उतनी ही आसानी से रोकने में समर्थ होने पर वह सन्तुष्ट होगा। उस समय पंजाब मेल भारत की सबसे तेज रेलगाड़ी थी।

व्यायाम द्वारा हमारी शारीरिक शक्ति में कल्पनातीत वृद्धि की जा सकती है – इस सत्य को सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। लेकिन हम सम्भवत: जिस बात पर ध्यान नहीं देते, वह यह है कि यही बात मानसिक क्षमताओं के विकास पर भी लागू होती है। अभ्यास के अभाव में हमारी मानसिक क्षमताओं का शोचनीय ह्रास हुआ है। परिणाम स्वरूप हमने देह पर अपना नियंत्रण खो दिया है, हमारी स्मृति-शक्ति नष्ट हो गयी है, हमारी विश्लेषण की क्षमता, दूरदृष्टि तथा मानसिक शक्ति के अनेक सूक्ष्म पक्षों का नाश हो गया है। लेकिन अनेकों ने इन क्षमताओं का उपयोग और विकास

कर आश्चर्यजनक दक्षता अर्जित की है। इससे यह सिद्ध होता है कि वैज्ञानिक रीति से नियमित अभ्यास द्वारा कोई भी ऐसा कर सकता है।

मैंने ऐसे लोगों को देखा है जिन्होंने अपनी एकाग्रता की शक्ति का ऐसा विकास किया है कि वे किसी भी पुस्तक के पृष्ठों को एक दृष्टि में पढ़ सकते हैं। इसके पीछे का मनोविज्ञान आसानी से समझा जा सकता है। हम जानते हैं कि जब बच्चा पढ़ना सीखता है तब वह एक के बाद एक अक्षर सीखता है। उसे अर्थ समझने के लिए प्रत्येक शब्द का उच्चारण करना पड़ता है। बड़े होने पर वह एक के बाद एक शब्दों का पाठ कर सकता है। और अधिक प्रगति करने पर वह एक ही नजर में पूरे वाक्य को पढ़ लेता है। इसी क्षमता का और अधिक विकास करने पर एक पूरा पैराग्राफ या परिच्छेद एक नजर में पढ़ा जा सकता है। मन को एकाग्र करने की क्षमता का विकास करने पर एक पूरे पृष्ठ को एक वाक्य अथवा पैराग्राफ की तरह आसानी से पढ़ा जा सकता है।

कई बार हमारे जीवन में कुछ विशेष समस्याएँ आती हैं। मन को स्थिर बनाने की विधि न जानने के कारण हम कोई निश्चित और रचनात्मक निर्णय नहीं कर पाते। किंतु एकाग्र मन आसानी से विक्षिप्त मन के लिए अगम्य गहनतम समस्या की गहराई में जाकर उसका समाधान खोज सकता है। चाहे किसी के जीवन का ध्येय कुछ भी हो, प्रत्येक व्यक्ति के लिए मन की एकाग्रता का अभ्यास और उसकी उपलब्धि परमावश्यक है।

ध्यान और एकाग्रता की शिक्षा और अभ्यास रहित मन अपने परिवेश के लाभ एवं हानि को स्पष्ट रूप से समझ नहीं पाता। इसके विपरीत ध्यानाभ्यस्त मन तत्काल परिस्थितियों के साथ सामंजस्य बिठाकर उसका श्रेष्ठतम सदुपयोग कर सकता है। परिवर्तन की आवश्यकता होने पर ऐसा मन उसके लिए आवश्यक व्यावहारिक, मानसिक और आध्यात्मिक प्रक्रियाओं को असंदिग्ध रूप से जान जाता है।

मन को पूर्ण विश्राम प्रदान करना और तनावशून्य बनाना अत्यधिक आवश्यक है। प्रकृति माता ने स्थूल शरीर के विश्राम की अद्भुत प्रक्रिया

की व्यवस्था दो दिनों के बीच एक मधुर अन्तराल के द्वारा कर दी है। लेकिन बेचारा अति-भाराक्रान्त मन निद्रा में भी बिरले ही विश्राम पाता है। उसे ध्यान की एक निर्धारित प्रक्रिया द्वारा पुन: शक्तिलाभ का अवसर दिया जाना चाहिए। कुछ दिनों तक पर्याप्त निद्रा न होने पर हमारी क्या अवस्था होती है, यह हम जानते हैं। लेकिन सत्य यह है कि अपने आविर्भाव से लेकर जीवन के अन्त तक बेचारे मन को निद्रा, विश्राम या पुन: शक्तिसम्पन्न होने का अवसर ही नहीं मिलता। अत: इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वह दुर्बल और प्राणहीन हो गया है। निश्चय ही उसमें मुकाबला करने की अद्भुत क्षमता है अन्यथा वह उसे निरन्तर मिल रहे निर्दय और निर्मम व्यवहार द्वारा कब का नेस्तनाबूद हो गया होता।

मन को अत्यावश्यक विश्राम देने और तनावरहित करने के लिए ध्यान की एक विशिष्ट प्रणाली है, जिसका हम अभी वर्णन करेंगे। कई बार हम सोचते हैं कि कार्य का परिवर्तन मन को तनावमुक्त करता है। हम सोचते हैं कि हमारा तनाव दूर हो रहा है, लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं होता। वस्तुत: होता यह है कि हम कुछ समय के लिए मन के श्रमसाध्य और क्लान्तिप्रद कार्यों से हटकर किसी नये, हल्के कार्य को करने लगते हैं किन्तु इसे वास्तविक विश्राम नहीं कहा जा सकता। मन को सभी प्रकार के शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक बोझ की ढुलाई से पूर्ण रूपेण छुटकारा दिलाने पर ही मन को सच्चा विश्राम मिल सकता है। अन्य किसी भी कर्तव्य के द्वारा परिचालित, नियंत्रित या नियोजित न होकर जब मन पूरी तरह से मुक्त होता है तभी वह वास्तविक स्वाधीनता और विश्राम का आस्वादन करता है। मन की ऐसी अवस्था ध्यान और एकाग्रता की एक विशिष्ट पद्धति द्वारा ही पायी जा सकती है।

हम प्रतिक्षण एक मनोवैज्ञानिक भ्रम में जी रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप ही मन में थकान, निराशा और झुँझलाहट पैदा होती है। यह भ्रम द्रष्टा और दृश्य, आत्मा और अनात्मा के अन्तर को न समझ पाने के कारण होता है। अनात्मा सक्रिय है, सारे कार्य करता है तथा दृश्यजगत् में इधर-उधर

जाता-आता है। सच्चा आत्मा साक्षी और प्रकाशक है। अपने स्वरूपभूत प्रकाश के द्वारा देह और मन को प्रकाशित करने के अतिरिक्त वह उनके कार्यों में कोई सक्रिय योगदान नहीं करता। जिस क्षण हम आत्मा और अनात्मा को एक दूसरे से अपनी बुद्धि में पृथक् करने में समर्थ होते हैं उसी क्षण द्रष्टा आत्मा को मुक्ति, विश्राम और शान्ति का अनुभव होता है। इस आश्चर्यजनक सत्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए। क्या यह अचम्भे की बात नहीं है कि यह जानते हुए भी कि देह और मन हमारे हैं, व्यवहार में हम सोचते हैं कि हम ही देह और मन हैं? सीधा-सादा तर्क तो यह है : यदि हम यह कहें कि मेरे एक देह और एक मन है तो मेरी आत्मा और देह-मन के बीच स्वामी और सम्पत्ति अथवा अधिकारी और अधीनस्थ का सम्बन्ध होना चाहिए। देह और मन अधिकारी के अधिकार में विद्यमान पदार्थ हैं और वास्तविक 'अहं' या आत्मा अधिकारी है। तो फिर अधिकारी और अधिकृत के बीच यह व्यर्थ का भ्रम क्यों? क्या हम अपने व्यावहारिक जीवन में अधिकृत को ही सदा अधिकारी नहीं समझते? क्या हमारा सामान्य अहंबोध देह और मन के साथ एकाकार नहीं हो गया है? इनका स्वामी, अधिकारी कहाँ चला गया है? वस्तुतः वास्तविक 'अहं' पहचानने में ही नहीं आता। ज्योंही हम वास्तविक 'अहं' को पहचानकर उसके शाश्वत महिमामण्डित सिंहासन पर उसे प्रतिष्ठित करते हैं त्योंही, देह-यंत्र की अवस्था चाहे कैसी भी क्यों न हो, हमें विश्राम, तनाव शून्यता और मन की पूर्ण निर्मुक्तता का अद्भुत अनुभव होता है। उसे उच्चतर 'अहं' के पृथक् अस्तित्व का अनुभव करते ही अत्यन्त क्रियाशीलता के बीच भी हमें अत्यन्त गहनतम विश्राम का सुख प्राप्त होता है।

तनावशून्यता की साधना का दार्शनिक आधार ध्यान की सहायता से परमात्मा के शान्त और नित्य पूर्ण स्वरूप का अनुभव करना है। उसके वास्तविक स्वरूप का अत्यन्त सुन्दर वर्णन एक उपनिषद् में एक जीवन-वृक्ष की अत्यन्त सांकेतिक और गम्भीर उपमा के माध्यम से किया गया है।

मानव जीवन की तुलना एक ऐसे विशाल वृक्ष से की गई है जिसकी जड़ें अज्ञात की अथाह गहराईयों में चली गईं हैं। यह वृक्ष अज्ञात अनंत

ब्रह्म के रस द्वारा पालित-पोषित होता है। इसका दृढ़ तना कर्म का तना है, जो एक के बाद एक अनेक जन्मों में मोटा हुआ है। समूचा वृक्ष इस तने ने दृढ़तापूर्वक धारण कर रखा है। विभिन्न रुचियों और स्वभाव के रूप में इससे विभिन्न दिशाओं में अनेक शाखाएँ निकलती हैं। इनसे अनेक टहनियाँ, पत्ते, कलियाँ, फल, फूल और पत्ते निकलते हैं। ये उन संस्कारों के फलों और अनुभवों के सदृश हैं, जिनके बीच से होकर मानव जीवन गुजरता है। उचित समय पर पत्ते उगते हैं। वे बढ़कर परिपक्व होते हैं और वृक्ष पर कुछ समय तक रहने के बाद अन्त में वृक्ष के अस्तित्व में अपना योगदान करके दूसरे पत्तों के लिए स्थान प्रदान करते हुए गिर जाते हैं।

इसी प्रकार हमारे कर्म के फल उगते हैं, परिपक्व होते हैं और कुछ समय रहकर झड़ जाते हैं। लेकिन गिर जाने पर भी वे पूर्णरूपेण विलुप्त नहीं होते। वे वृक्ष की वृद्धि के लिए अपने अनुभवों का योगदान कर जाते हैं। वृक्ष की तरह मानव जीवन में भी पुष्प उगते हैं और क्रमशः विकसित होकर फल बनते हैं। फल परिपक्व होकर गिर जाते हैं वृक्ष के विकास में अपना योगदान करके। 'पुष्प और फल' हमारे शुभ और अशुभ, और दोनों से भिन्न, तटस्थ कर्मों के परिणाम स्वरूप हैं। वे प्रकट होते हैं, कुछ समय तक रहकर संस्कार के भण्डार में योगदान करके समाप्त हो जाते हैं।

इस वृक्ष के शिखर पर लेकिन उससे असम्बद्ध और निराश्रित एक आत्मस्थ, आत्मसन्तुष्ट, स्वयंज्योति पक्षी बैठा हुआ है। वह सदानन्द, सदा प्रसन्न रहता है। वह अपने अस्तित्व, आनन्द और ज्ञान के लिए किसी पर निर्भर नहीं रहता। उससे प्रकाश, ज्योति, ज्ञानालोक विकीर्ण हो रहा है और उसके दैवी प्रकाश से नीचे का समूचा वृक्ष प्रकाशित हो रहा है। यह पक्षी वृक्ष के शिखर पर स्थित अपने महिमामण्डित सिंहासन को कभी नहीं त्यागता क्योंकि उसकी किसी प्रकार की इच्छाएँ, आवश्यकताएँ नहीं हैं, वह परिपूर्ण है।

बहुत कुछ मिलता-जुलता एक और पक्षी इस वृक्ष के मध्यभाग में रहता है। उसके निवास का कोई निश्चित स्थान नहीं है। वह एक शाखा से दूसरी शाखा पर फुदकता हुआ सतत् क्रियाशील है। वह सदा भूखा और चञ्चल बना

रहता है। इस पक्षी का लोभ तो देखो! जितना खाता है, उतनी ही अधिक उसकी भूख मानो बढ़ती जाती हैं। वह प्रत्येक क्षण नये फल खोजने और चखने में लगा रहता है। मीठे फल को चखने पर उसे अस्थायी सुख और आनन्द का अनुभव होता है। किन्तु उसका सन्तोष क्षणस्थायी रहता है और उसे पुनः भूख लग जाती है। वह दूसरा फल खाता है लेकिन वह कडुआ निकलता है। तब उसे एक आघात लगता है और इधर-उधर ताकने पर वह ऊपर के स्वयंप्रकाश पक्षी के सौन्दर्य एवं भव्यता की झलक पाता है। वह उसके प्रति अत्यधिक आकर्षित हो उसके पास जाना चाहता है। लेकिन अगले ही क्षण वह उसे भूल कर दूसरे फल की ओर दौड़ता है।

फलों की तलाश में भटकते हुए यह चञ्चल पक्षी अनजाने और अलक्षित रूप से दूसरे पक्षी की ओर आकृष्ट होता हुआ उसकी ओर एक घुमावदार मार्ग से बढ़ता जाता है। जब अन्त में तृप्ति एवं सन्तोष का अनुभव होता है तब उस पक्षी की फल की खोज में चक्कर काटने की और इच्छा नहीं होती। कभी-कभी वह ऊपरी पक्षी की ओर सीधी उड़ान भरता है और शीघ्र उसके पास पहुँच जाता है। लेकिन अधिकांशतः ऊपर वाले पक्षी के निकट गमन धीरे-धीरे ही होता है। अन्त में नीचे वाला पक्षी ऊपर वाले पक्षी के बहुत निकट पहुँच जाता है और उसका प्रकाश एवं प्रशान्ति अत्यन्त स्पष्ट रूप से उस पर प्रतिबिम्बित होने लगते हैं। अन्ततः उसकी पृथक् सत्ता नष्ट हो जाती है और वह ऊपर वाले पक्षी में विलीन हो जाता है। उसे अनुभव होता है कि नीचे वाला पक्षी ऊपर वाले पक्षी की छाया मात्र था। यह सब माया थी। ऊपर वाला पक्षी ही एकमात्र सत्य है तथा वह जीवन-वृक्ष की वृद्धि और विकास में कोई सक्रिय भूमिका अदा नहीं करता।

हमारी सत्य आत्मा ही ऊपर वाला पक्षी है। नीचे का पक्षी अर्थात् देह और मन का संघात ऊपर वाले पक्षी की छाया मात्र है। तनावशून्यता की साधना में स्वयं को ऊपर वाले पक्षी के स्थान में देखा जाता है।

प्रथम पाठ :

किसी भी स्थान पर किसी भी आसन में अपने विचारों में डूबे बैठ

जाओ और अपना ध्यान ज्योतिर्मय पक्षी पर टिकाये रखो। अपने को साक्षी आत्मा समझो। मन ही मन संकल्प करो मैं देह अथवा मन नहीं हूँ। वे मेरे हैं। मेरा वास्तविक 'अहं' न तो स्थूल शरीर है और न ही सूक्ष्म शरीर। मैं सदा सर्वदा देह से पृथक् नित्यमुक्त आत्मा हूँ। मैं साक्षी हूँ और देह के स्तर पर प्रकट हो रहे और अस्त हो रहे प्रत्येक संवेदन को उस प्रक्रिया से किसी भी प्रकार संयुक्त हुए बिना देखता हूँ। मैं नित्यानन्दस्वरूप, आत्मसन्तुष्ट, स्वयंज्योति और सत्यस्वरूप हूँ। मैं पूर्ण सच्चिदानन्द हूँ। मैं वही हूँ। मैं वही ज्योतिर्मय पक्षी, नित्यमुक्त आत्मा हूँ।

ऐसा संकल्प करने के बाद ऊपर वाले पक्षी में अपनी चेतना को दृढ़तापूर्वक लगाए रखकर मन को स्वच्छन्द विचरने दो। उसे रोकने का प्रयत्न मत करो। उसे उसकी इच्छानुसार फल खाने दो। उसे जब इस बात का भान होगा कि उच्चतर आत्मा उस पर सतत दृष्टि रखे हुए है तब वह अधिकाधिक शान्त होने लगेगा और ऊपर वाले पक्षी-रूप अपने घर जाने की लालसा उसमें जागेगी।

इस पाठ का अभ्यास जितनी बार सम्भव हो, करना चाहिए। जब कभी थोड़ा समय मिले, इसकी कल्पना करो। मन ही मन इस मंत्र का जप करो 'मैं वही हूँ', और इसके साथ जीवन-वृक्ष के रूपक में निहित भाव की स्पष्ट कल्पना करते हुए भावना करो। इसका इतना अभ्यास करो कि 'मैं वही हूँ' का उच्चारण होते ही तुम ऊपरवाले पक्षी की स्थिति में पहुँच जाओ। किसी वाहन द्वारा कार्यालय जाते समय, घर में या किसी उद्यान में बैठे हुए, व्यस्त दिनचर्या के बाद घर पर आराम करते हुए, वस्तुतः जब कभी व्यस्तता के बीच जिन कुछ क्षणों का तुम्हें विश्राम मिले, इस विचार में डूब जाओ। इससे तुम्हें यथार्थ विश्राम और शान्ति का अद्भुत बोध होगा। इसका जितना अधिक अभ्यास हो सके करो। धीरे-धीरे इस सत्य को अपने मन-बुद्धि में आत्मसात करने का प्रयत्न करो जिससे इस पाठ के प्रति तुम्हें और ध्यान न देना पड़े और वह तुम्हारे श्वास-प्रश्वास की भाँति स्वाभाविक हो जाय।

अनन्त भण्डार से सम्पर्क :

योगदर्शन का अपूर्व, मौलिक और अत्यन्त व्यावहारिक एक सिद्धान्त यह है कि मानव पूर्णता की प्राप्ति हेतु अपने भीतर विद्यमान ऊर्जा और शक्ति के अनन्त भण्डार पर जन्मसिद्ध अधिकार लेकर इस धराधाम पर आया है। यह सिद्धान्त केवल आध्यात्मिक विकास पर ही लागू नहीं होता। कई योगियों ने इस सत्य को सिद्ध किया है कि अन्न, जल, वायु आदि हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी हमारे आध्यात्मिक स्वरूप से हो सकती है।

अनन्त भण्डार से आवश्यकताओं की, यहाँ तक कि शारीरिक आवश्यकताओं की, पूर्ति के विशेष ज्ञान का आविष्कार करने वाले एक ऋषि की एक बड़ी रोचक कहानी है। जन्म से ही इस ऋषि का लालन-पालन जंगल के एक आश्रम में हुआ था। उसने केवल आश्रम निवासी संन्यासियों को ही देखा था। बड़ा होने पर वह एक प्रतिभावान विद्वान बना। उसके गुरु को यह आशा थी कि उनका यह युवा शिष्य श्रेष्ठतम ऋषियों में से एक होगा और सम्भवत: मानवजाति के ज्ञानभण्डार और प्रगति में महत्त्वपूर्ण नवीन योगदान करेगा। लेकिन गुरु ने इस युवक में एक कमी देखी। वह दर्शनशास्त्र की विभिन्न शाखाओं का विद्वान तथा योगाभ्यास में प्रवीण होते हुए भी मानव स्वभाव के मामले में अनभिज्ञ था क्योंकि उसको सांसारिक ज्ञान केवल पुस्तकों से ही प्राप्त हुआ था। उसे मठ के बाहर के लोगों के संपर्क में आने का कभी अवसर ही नहीं मिला था।

संन्यासियों में यह नियम था कि प्रतिदिन प्रात:काल वे मठ से किसी को निकटस्थ गाँव में दिनभर के लिए पर्याप्त पके अन्न की भिक्षा के लिए भेजते थे। एक दिन गुरु ने इस युवा संन्यासी को भिक्षार्थ गाँव में भेजा। वह पहली बार मठ के बाहर जा रहा था और नये अनुभव के लिए उत्सुक था। जंगल से निकलकर उसने गाँव में प्रवेश किया। जीवन में पहली बार उसे ऐसे लोग दिखाई दिए जो उसकी अभिज्ञता से बहुत भिन्न थे। उसने लोगों से बातचीत की और उनकी बातों को चाव से सुना। गुरु के निर्देशानुसार उसने प्रथम मकान का दरवाजा खटखटाया। दरवाजा एक युवती ने खोला

जो संन्यासी को देने के लिए अन्न लेकर खड़ी थी। लेकिन वह अपने जीवन में पहली बार पुरुष से भिन्न किसी व्यक्ति को देख कर इतना आश्चर्यचकित हो गया कि उसकी ओर भौचक्का हो देखता रह गया। इससे युवती लज्जित हो गई और लौटकर जाने लगी। संन्यासी ने उसे रूकने को कहा और बोला कि वह उससे कुछ बातें पूछना चाहता है। वह इतनी भिन्न क्यों दिखाई देती है; उसका शारीरिक गठन अन्य पुरुषों से इतना भिन्न क्यों है? इत्यादि अनेक प्रश्न उसने किए, जिनका उत्तर कन्या के लिए देना सम्भव नहीं था। अत: उसने कहा, "कृपया ठहरिए। मैं अपनी माँ को बुलाती हूँ। वह आपके प्रश्नों का उत्तर देंगी।"

युवा संन्यासी को देखते ही माँ ने परिस्थिति को भाँप लिया। वह समझ गई कि संन्यासी ने पहली बार किसी नारी को देखा है। मातृसुलभ स्नेह के साथ उसने युवा-संन्यासी को उसके सभी प्रश्नों के उत्तर दिए। उसने उसे समझाया कि युवती मानव की माता बनेगी और यह उसके जीवन का प्रमुख और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। इसीलिए भगवान् ने उसकी रचना इस प्रकार की है कि उसके शरीर का प्रत्येक अंग, प्रत्येक क्षमता का विकास उस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए हो सके। उसने बताया कि नारी कोमल दिखती है क्योंकि बालक के लालन-पालन में ऐसी कोमलता की आवश्यकता होती है। उसकी वाणी मधुर और सुरीली होती है जिससे वह भावी पीढ़ियों को शान्तिदायक गुण प्रदान कर सके। उसने इस सत्य को भी जोर देकर समझाया कि जन्म होने पर बालक को प्रचुर मात्रा में आहार चाहिए जो बच्चे के आगमन से बहुत पहले से ही माँ के शरीर में संचित रहता है।

इस ज्ञान से, जो उसे पुस्तकों से नहीं मिला था, वह युवा संन्यासी अत्यन्त प्रभावित हुआ। आश्चर्यचकित हो उसने पूछा, "क्या आप यह कहना चाहती हैं कि मेरे जन्म से बहुत पहले ही मेरे प्रभु ने मेरे आहार को मेरी माता के शरीर में संचित करना आवश्यक समझा था?" महिला के द्वारा इस बात को स्वीकार करने पर युवा संन्यासी मानो अभिभूत हो गया। वह जाने के लिए उठ खड़ा हुआ। महिला ने उसे भोजन लेने की, जिसके लिए

वह आया था, याद दिलाई तो उसने अनिच्छा से सिर हिलाते हुए कहा, "यह भ्रम बहुत हो गया, अब और नहीं।"

युवा संन्यासी मठ लौट आया। भोजन के बारे में पूछने पर उसने कुछ अति सुन्दर श्लोकों में गुरु को उनकी उस भूल के लिए उलाहना देते हुए उत्तर दिया कि उन्होंने उसे इस सत्य की शिक्षा नहीं दी कि उसे संसार में भेजने वाला ईश्वर अत्यन्त दयालु है और दूसरों का इतना ध्यान रखने वाला है। उसने उसके भोजन की भी व्यवस्था उसकी माता के शरीर में कर रखी थी। उसने कहा, "क्या आप सोचते हैं कि ईश्वर मर गया है अथवा अपने कार्य के प्रति इतना लापरवाह है कि बड़ा होने पर मेरे जीवन निर्वाह की आगे की व्यवस्था नहीं की है? अब मेरा सुदृढ़ विश्वास हो गया है कि मुझे भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक, जिस किसी भी वस्तु की, जब कभी आवश्यकता होगी, उसकी मेरे भगवान् ने व्यवस्था कर रखी है। मैं आवश्यकतापूर्ति के इस अनन्त भण्डार के साथ सम्पर्क स्थापित करने की विधि खोजूँगा और संसार में उसकी शिक्षा दूँगा।" परम्परागत रूप से इस ऋषि को उस सत्य का आविष्कारक माना जाता है। इस कथा के अतिरिक्त भी वस्तुतः युक्ति और अनुभूति के आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि मनुष्य अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति अपने अभ्यन्तर से कर सकता है। भारतीय योगी दीर्घकाल तक पृथिवी के भीतर दबे रहे हैं। अभी हाल में कुछ लोगों ने कुछ आसनों द्वारा अपने अंगों और शारीरिक क्रियाओं में परिवर्तन कर देह को अन्न, जल और वायु की आवश्यकताओं से परे ले जाने के आश्चर्यजनक चमत्कार किये हैं। वस्तुतः वे सभी प्रकार की प्राकृतिक एवं स्वाभाविक आवश्यकताओं के ऊपर उठ गये थे।

मानसिक, आध्यात्मिक और भौतिक शरीरों के पुनरुज्जीवन तथा परिपूरण के लिए योगीगण विभिन्न साधनाओं की शिक्षा देते हैं। जिस प्रकार हम भौतिक आहार को भौतिक भण्डार से प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार प्राकृतिक आध्यात्मिक स्रोत से आध्यात्मिक आहार प्राप्ति की विधि का हम सर्वप्रथम वर्णन करेंगे।

मानसिक जगत् में किसी भी व्यक्ति के द्वारा पैदा की गई तरंगें कभी नष्ट नहीं होतीं। वे व्यक्तिगत चेतना में विशेष अनुकूलता के अवसर पर पुन: प्रवेश करने के लिए अत्यन्त सूक्ष्म रूप में सदा विद्यमान रहती हैं। इसे समझाने के लिए एक बड़ा उपयुक्त दृष्टान्त दिया जा सकता है। एक वाद्ययंत्र के तारों को एक स्वर-विशेष में बाँधने के बाद पियानों पर उस स्वर-विशेष को बजाओ। तुम देखोगे कि पियानो पर उस स्वर-विशेष को बजाते ही उस वाद्ययंत्र के तार स्पन्दित होने लगेंगे, भले ही वह पियानो से दूर रखा हो। लेकिन उससे ऊपर या नीचे के सुरों को पियानो पर बजाने का उस यंत्र पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

इसी प्रकार जब व्यक्ति अपनी चेतना के यंत्र में किसी स्वर-विशेष को बाँधता है तो मानसिक जगत में विद्यमान उसके अनुकूल विचारों को अपनी ओर आकृष्ट करता है। बुद्ध, ईसा तथा अन्य सभी अवतारों, सन्तों और ऋषियों की विचार तरंगें मानसिक आकाश में विद्यमान हैं। इसी तरह दूसरों की भी विचार तरंगें हैं। अत: हमें कल्याणप्रद तरंगों के सम्पर्क में आने की तथा अकल्याणकर से बचने की विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। अतएव अकल्याणकर विचारों के संक्रमण से बचने और उदात्त बनाने वाले विचारों के शुभ प्रभाव के प्रति स्वयं को उन्मुक्त करने के लिए आध्यात्मिक स्वास्थ्य-विज्ञान सीखना आवश्यक है।

इसके लिए एक विशेष योग-प्रणाली का अभ्यास किया जाता है। सकारात्मक और शुद्धिकारक विचार-तरंगों के संस्पर्श में आने के लिए व्यक्तिगत चेतना में कुछ परिवर्तन करने पड़ते हैं जिससे उसका आवश्यकता पूर्ति के मुख्य प्रवाह के साथ सम्पर्क स्थापित हो सके। दृष्टान्त के लिए सोचें कि यहाँ एक विद्युत ज्योति (बल्ब) है और दीवार पर एक बटन है। बटन दबाने से विद्युत-बल्ब और विद्युत-प्रवाह में सम्पर्क स्थापित हो जाएगा। उस बटन विशेष के द्वारा ही मैं सम्बन्ध स्थापित कर सकता हूँ। दीवार पर विद्यमान अन्य कई बटनों को दबाने पर भी जब तक मैं निर्धारित बटन को न दबाऊँ तब तक मुझे बल्ब से प्रकाश नहीं मिलेगा। इसी प्रकार हमारे व्यक्तिगत विचारों

को शक्तिशाली आध्यात्मिक डायनामों के साथ जोड़ने के लिए मानव देह के किसी स्थान विशेष में विद्यमान एक विशेष बटन का उचित उपयोग करना पड़ता है। योग में इन विशेष स्थानों अथवा बटनों को कमलों के संकेत द्वारा दर्शाया गया है। अवश्य, इन्हें सचमुच के कमल नहीं समझना चाहिए। ये सांकेतिक हैं।

ध्यान का दूसरा पाठ :

मस्तिष्क में भ्रूमध्य के स्तर पर एक श्वेत ज्योतिर्मय द्विदल पद्म की कल्पना करो जिसके बीच में एक वृत्त है। पद्म ऊपर की ओर मुँह किये पूरा खिला हुआ है। चक्र के ऊपर पूर्ण चन्द्र का प्रतीक विराजित है जिससे शुद्ध श्वेत किरणें निकल रही हैं। सीधे बैठ कर पूर्णचन्द्र से प्रसारित हो रही किरणों की स्पष्ट कल्पना करते हुए उस श्वेत पद्म का ध्यान करो। ऐसी भावना करो कि उन किरणों के माध्यम से विश्व के सभी महान् आध्यात्मिक स्त्री-पुरुषों के द्वारा पैदा की गई तथा मनोजगत् में सञ्चित की गई विचार-तरंगें तुम्हारी ओर तेजी से प्रवाहित हो रही हैं। सोचो कि तुम्हारा प्रत्येक परमाणु उन तरंगों द्वारा परिपूर्ण हो रहा है।

ऐसा संकल्प करो : "मैं मनोजगत् से उदात्त, शुद्धिकर, बलप्रद, शक्तिदायक विचारों को ग्रहण कर रहा हूँ। अवतारों, ऋषियों, आचार्यों के द्वारा सञ्चित भाव सम्पद का मैं अधिकारी हूँ। विश्व के सभी देश, काल, जाति और धर्म के सभी अवतारों की विचार शक्ति मेरी चेतना में विद्यमान है।"

कम से कम दस मिनिट तक इस प्रकार ध्यान करने के बाद अपने स्थूल और सूक्ष्म शरीर की स्फूर्ति के लिए इस पाठ के दूसरे भाग (निम्नोक्त तीसरी पद्धति) का अभ्यास करो। इस दूसरे भाग की साधना के पीछे सिद्धान्त यह है कि हमारी स्थूल देह पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच तत्त्वों के मिश्रण से बनी है। इन पाँचों महाभूतों के कुछ विशेष गुण और शक्तियाँ होती हैं। इन महाभूतों के साथ सम्पर्क स्थापित कर हम विराट

भण्डार से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते है। यहाँ भी कुछ विशेष बटनों की सहायता से हम इन विराट् शक्तियों में से किसी के भी साथ सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। ये सम्पर्क देह के भीतर स्थित कुछ केन्द्रों को नियंत्रित करने तथा उन पर ध्यान करने से स्थापित होते हैं। इन केन्द्रों को पद्म कहा गया है लेकिन यह नहीं सोचना चाहिए कि उनमें कोई स्थूल पद्म होता है। जैसा कि मैंने पूर्व में ही कहा है, पद्म एक आध्यात्मिक प्रतीक है जिसका योगीगण सदियों से उपयोग करते आ रहे हैं।

ध्यान की तीसरी पद्धति :

सीधे बैठो तथा पीठ, गर्दन और सिर को एक सीध में रखो। मेरुदण्ड के सबसे निचले भाग में एक वृत्त के चारों ओर एक चतुर्दल लाल पद्म की कल्पना करो। पद्म पूरी तरह खिला हुआ है और उसका रंग चमकदार है और वह सुन्दर है। उसका मुँह ऊपर की ओर है। इस चक्र पर एक समकोण त्रिभुज का प्रतीक अंकित है जिसका शिखर पीठ की ओर है। स्वच्छ, शुभ्र, उज्ज्वल प्रकाशयुक्त इस त्रिकोण की कल्पना पद्म के रक्तवर्ण वृत्त की पृष्ठभूमि में करो। इस चक्र से सभी दिशाओं में ज्योति किरणें प्रसारित हो रही हैं जो विराट् पृथिवीतत्त्व की शक्तियों के साथ सम्पर्क स्थापन की माध्यम हैं। सोचो कि तुम पृथिवी माता के गुणों से अपनी समस्त सत्ता को पुनरुज्जीवित और शक्ति से पूर्ण कर रहे हो।

आनन्द और प्रसन्नता के साथ मन ही मन यह संकल्प करो : मैं पृथिवी माता से दृढ़ता, स्थिरता और निश्चलता के सद्गुणों को अपने शरीर में प्रकट कर रहा हूँ। हे विराट माते! जागो! अपनी शक्ति से मुझे परिपूर्ण कर दो। आपने अपने वक्ष पर पर्वतों, सागरों और मैदानों को धारण कर रखा है। मुझे भी दृढ़ता से धारण किये रखो जिससे मैं पूर्णता प्राप्ति के अपने लक्ष्य से च्युत न होऊँ। मेरा स्वास्थ्य, उद्देश्य, इच्छाशक्ति और आध्यात्मिक आदर्श दृढ़ प्रतिष्ठित हैं। जगत् की कोई भी शक्ति मुझे डिगाने का साहस नहीं कर सकती। मैं पृथ्वीमाता की तरह बलवान, दृढ़ एवं स्थिर हूँ।"

इसके बाद मेरुदण्ड में जननेन्द्रिय के स्तर पर एक अन्य पद्म की कल्पना करो। यह पद्म छः पंखुड़ियों का, सिन्दूरी रंग का है और एक वृत्त को आवृत किये है। वृत्त पर श्वेत बालचन्द्र का प्रतीक है जिससे किरणें निःसृत हो रही हैं। बालचन्द्र का घुमाव पीछे की ओर है। कल्पना करो कि उन किरणों के माध्यम से विराट जल तत्त्व का प्राणवन्त और स्फूर्तिदायक प्रभाव तुम में प्रवाहित हो रहा है।

इसके साथ निम्नोक्त संकल्प करो : "हे सबके सुहृत, उठो, जागो। अपनी शक्ति और विशेषताओं से मुझे परिपूर्ण कर दो। मैं विनम्रता, सज्जनता और अनुकूलता जैसे सद्गुण जल तत्त्व से प्राप्त कर रहा हूँ। मैं दम्भी और अहंकारी नहीं हूँ। मैं सबसे दीन हूँ। सबका दास हूँ। किसी प्राणी की सेवा करना मेरा परम सौभाग्य है। जिस तरह पानी किसी भी परिवेश के साथ उसके गुणों को पूरी तरह से आत्मसात् कर तथा अपने मौलिक स्वभाव का रंचमात्र भी त्याग किए बिना तालमेल बिठा लेता है, उसी प्रकार मेरा स्वभाव भी ऐसा है कि मैं सभी परिस्थितियों में, अनुकूलताओं और प्रतिकूलताओं के साथ अपनी मौलिक पूर्णता को पूरी मात्रा और अनुपात में बनाये रखकर तालमेल बिठा सकता हूँ। मैं जल तत्त्व के समान तरल, कोमल, नरम और लचीला हूँ।"

मेरुदण्ड में नाभि के स्तर पर एक और पद्म की कल्पना करो। एक वृत्त को आवृत किये वह दश दल कमल अरुण वर्ण का है। उसके अरुण वर्ण की पृष्ठभूमि में एक और प्रतीकात्मक त्रिकोण है जिसका कोण सामने की ओर है। चमकदार किन्तु स्निग्ध श्वेतप्रकाश से बना यह त्रिकोण अग्नितत्त्व का प्रतीक है। पिछले पाठ की तरह अपने मन को यह सुझाव दो कि इस प्रतीकात्मक त्रिकोण की स्निग्ध किरणों के माध्यम से तुम्हें अग्नितत्त्व के विश्वजनीन सद्गुण प्राप्त हो रहे हैं।

निम्नोक्त संकल्प करो : "हे पुरातन शक्ति, उठो, जागो और मुझे अपनी शक्ति से भर दो। मैं अग्नितत्त्व से तेज, पवित्रता और दूसरों को पवित्र करने की शक्ति प्राप्त कर रहा हूँ। जिस प्रकार अग्नि सभी बाधाओं

को पार कर जाती है, किसी से दमित नहीं होती और सदा विजयी होती है उसी प्रकार मेरा स्वरूपभूत पूर्णत्व सभी बाधाओं को लाँघ कर मेरे समक्ष प्रकट हो रहा है। मेरी आत्मा की अग्नि से सभी संक्रमण, संस्पर्श और संदूषणकृत मलीनता भस्म हो रही है। मैं अग्नितत्त्व की तरह नित्यशुद्ध सदा उज्ज्वल, प्रकाशमय और सर्वशक्तिमान हूँ। मैं अन्तर्निहित अग्नि के स्पर्श से समस्त विश्व को पवित्र कर रहा हूँ।"

अब मेरुदण्ड में हृदय के स्तर पर वृत्त को आवृत किये एक नीलवर्ण के द्वादशदल पद्म की कल्पना करो। वृत्त पर दो विपरीत त्रिकोण अथवा षटकोण तारे का प्रतीक रखा हुआ है। इस उज्ज्वल किन्तु स्निग्ध श्वेत प्रकाशमय प्रतीक से चारों ओर किरणें निकल रही हैं। इन किरणों के माध्यम से वायुतत्त्व के साथ व्यष्टि-चेतना का सम्पर्क हो रहा है। अपने को इस भाव से पूर्ण करो कि तुम्हारे शरीर का प्रत्येक परमाणु वायु तत्त्व के गुणों से परिपूर्ण हो रहा है।

निम्नोक्त संकल्प करो : आओ भाई, आओ। अपनी मुक्ति का स्पर्श मुझे प्रदान करो। अपने पूर्ण बल और अभिव्यंजना सहित मुझमें उठो, जागो। मैं वायु की तरह मुक्त हूँ। जिस प्रकार वायु किसी के भी द्वारा सीमाबद्ध, आसक्त अथवा आबद्ध हुए बिना अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे आ-जा सकती है, उसी प्रकार मैं भी किसी से आसक्त नहीं हूँ। मैं वायु की भाँति मुक्त हूँ और इच्छानुसार लिप्त अथवा निर्लिप्त हो सकता हूँ। मैं प्रसन्नतापूर्वक आनन्द, पूर्णतर जीवन और पुनरुज्जीवन का सन्देशवाहक बनकर सर्वत्र बिना किसी बन्धन के विमुक्त प्रवाहित हो रहा हूँ। मैं वायुतत्त्व की आत्मा हूँ।

इसके बाद गर्दन के स्तर पर मेरुदण्ड में भूरे रंग के सोलह पंखुड़ियों वाले तथा वृत्त को आवृत किए एक पद्म की कल्पना करो। वृत्त पर एक ज्योतिर्मय गोलाकार चक्र का प्रतीक है। इस चक्र से प्रकाश की किरणें सर्वत्र प्रसारित हो रही हैं तथा तुम्हारे और आकाश तत्त्व के बीच सम्पर्क स्थापित कर रही हैं। अपने भीतर प्रविष्ट हो रही तथा तुम्हारे रग-रग में व्याप्त हो रही प्राणशक्ति का ध्यान करो।

अब यह संकल्प करो : "हे अनन्त, सर्वव्यापी, विश्वजनीन तत्त्व, परम महिमान्वित होकर उठो, जागो। अपने तेज, असीमता और सर्वव्यापकत्व से मुझे परिपूर्ण कर दो। मैं आकाश तत्त्व की तरह असीम और व्यापक हूँ। मैं उच्चतम देवदूतों, देवताओं और उपदेवताओं से लेकर पृथिवी पर रेंग रहे निम्नतम प्राणी तक सभी का मूल तत्त्व हूँ। मैं सभी की आत्मा हूँ। मैं सभी में हूँ और सभी मुझमें हैं। मैं धनी में हूँ, निर्धन में हूँ, बलवान में हूँ, दीन में भी हूँ। मैं बुद्धिमान में हूँ, मूर्ख में भी हूँ। मैं सुन्दर में हूँ, कुरूप में हूँ। मैं सभी में सर्वत्र, सारतत्त्व हूँ। अपने को सभी में जानकर मैं अपने विचारों में संकीर्ण अथवा सीमित कैसे हो सकता हूँ? मैं किसी से घृणा कैसे कर सकता हूँ? मैं विश्वप्रेम, सहिष्णुता और समझ की सुरा पान कर मस्त हूँ। मैं आकाश तत्त्व की आत्मा हूँ।"

इन पाठों का दिन में कम से कम दो बार अभ्यास करो। तब धीरे-धीरे तुम्हारा विशेष प्रकार का विकास प्रारम्भ होगा। एक वर्ष तक इन पाठों का व्यवधानरहित अभ्यास करने पर तुम देखोगे कि तुम्हारे व्यक्तित्व में अद्भुत सद्गुणों का विकास हुआ है। तुम में सदा एक गहरी तृप्ति का बोध बना रहेगा जो तुम्हें समस्त आवश्यकताओं और अपूर्णताओं के ऊपर उठा देगा। वस्तुतः तुम्हारा मन अत्यन्त सम्पन्न हो जाएगा। आध्यात्मिक आदर्श की प्राप्ति के सुख की किसी सांसारिक आकांक्षा की पूर्ति से तुलना नहीं की जा सकती। सभी सांसारिक सुख एवं पदार्थ स्वरूपतः नश्वर हैं। किसी भी सम्पत्ति के तुम अनन्त काल तक अधिकारी नहीं रह सकते। सांसारिक निधि के सञ्चय से और अधिक सञ्चय की इच्छा होती है। इसलिए यदि अनन्त भण्डार से आवश्यकता पूर्ति का उपाय सीखकर तुम लौकिक सम्पत्ति अर्जित और सञ्चित करोगे तो इससे तुम्हारी इच्छाओं एवं अशान्ति में और अधिक वृद्धि होगी। कोई भी सांसारिक सम्पदा व्यक्ति को सन्तुष्ट नहीं कर सकती। आध्यात्मिक ज्ञानार्जन से सभी पर आधिपत्य स्थापित हो सकता है।

एक बार एक सम्राट् की एक योगी से भेंट हुई। वह उसे अपने महल में ले गया। उसने कहा कि उसके पास अपार सम्पदा है तथा सभी

इच्छित वस्तुएँ हैं। उसने योगी को अपने साथ प्रार्थना के लिए देवालय चलने को कहा। योगी और सम्राट् प्रार्थना करने लगे। लेकिन प्रार्थना के दौरान सम्राट् ने भगवान् से अधिक धन सम्पत्ति, अधिक शक्ति, अधिक आयु आदि की प्रार्थना की। प्रार्थना के समाप्त होने से पूर्व ही योगी उठ कर जाने लगा। सम्राट् ने उसे रोका और पूछा कि वह क्यों जा रहे थे? सन्त ने उत्तर दिया, "मैंने गलती की। मैं तो सोच रहा था कि मैं सम्राट् से मिलने आया हूँ। मुझे यह नहीं पता था कि मैं एक ऐसे क्षुद्रतम भिखारी के साथ हूँ जैसा मुझे कभी नहीं मिला था। मैं ऐसे भिखारियों को जानता हूँ जो कपड़े या रोटी के एक टुकड़े की भीख माँगते हैं। लेकिन यहाँ मैंने उनमें सबसे क्षुद्रतम भिखारी को पाया है जिसकी आवश्यकताएँ इतनी ज्यादा हैं कि उसने एक सूची भगवान् के समक्ष प्रस्तुत की है।" सम्राट् लज्जित हो गया और अपनी गलती पहचान कर सच्चा आध्यात्मिक जीवन यापन करने लगा।

हमें सदा याद रखना चाहिए कि अपनी आध्यात्मिक पूर्णता की अभिव्यक्ति और विकास ही हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति की जा सकती है तथा जिसके द्वारा हम परमानन्द और चिरजीवन प्राप्त कर सकते हैं।

आसन और प्राणायाम :

ध्यान में दिशा, काल, स्थान, आसन और प्राणायाम की भूमिका का विचार करने से पूर्व मैं एक तथ्य की ओर आपका ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करना चाहूँगा। सभी दिशाओं में भगवान् हैं; सभी स्थानों पर भगवान् हैं; भगवान् सर्वत्र हैं; सत्य सर्वत्र है। अत: किसी स्थान-विशेष में अथवा दिशा-विशेष की ओर बैठने से अधिक आध्यात्मिकता प्राप्त नहीं होती। कई लोग सोचते हैं फिर किसी विशेष आसन में बैठने से अथवा विशेष प्रकार से श्वास-प्रश्वास लेने से वे सिद्ध हो जाएँगे। लेकिन किसी भौतिक उपाय से सिद्धि कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। फिर भी प्रारम्भिक अवस्था में इन बाह्य नियमों के मात्र सहायक गौण अंगों के रूप में पालन से हमें बहुत

लाभ हो सकता है। प्रारम्भिक साधक को परिवेश की सभी अनुकूल परिस्थितियों तथा विचार प्रवाह की सहायता लेना चाहिए। फिर भी उच्चतर आध्यात्मिक विकास होने पर वह क्रमशः बाह्य परिस्थितियों से मुक्त हो जाता है। हमारा लक्ष्य मुक्ति है; देश, काल अथवा परिस्थितियों की दासता नहीं।

सड़क के किनारे रोपे गये वृक्ष की चारों ओर से बाड़ द्वारा रक्षा करनी पड़ती है। बाड़ अपने आप में वृक्ष के बढ़ने और विकसित होने में किसी भी प्रकार का योगदान नहीं करती। वस्तुतः वह एक समय बाद वृक्ष की वृद्धि में बाधक होती है। फिर भी क्षतिकारक तत्त्वों के आक्रमण से रक्षा के लिए पौधे के बलवान वृक्ष बनने तक बाड़ बनाए रखनी पड़ती है।

ध्यान की साधना के लिए जिन सहायक उपायों का उपदेश दिया जाता है, उन्हें हमारी आध्यात्मिकता के छोटे से पौधे के लिए बाड़स्वरूप समझना चाहिए। वृक्ष के बड़े हो जाने पर बाड़ हटा लेना चाहिए। मन्दिर, क्रिया-अनुष्ठान, आचार्य, पुस्तकें, आहार सम्बन्धी नियम इत्यादि हमारे आध्यात्मिक पौधे की कुछ समय तक रक्षा कर सकते हैं लेकिन उसके बड़े हो जाने पर क्रिया-अनुष्ठान आदि की कँटीली बाड़ वृक्ष को ही मार डाल सकती है। नियमों का विचार और विवेकपूर्वक पालन करो, लेकिन वे तुम्हारे पौरुषत्व को पंगु न करें। किसी के भी दास मत बनो।

दिशा के सम्बन्ध में एक अत्यन्त सुन्दर घटना का वर्णन सिखधर्म के संस्थापक, गुरु नानक के जीवन में मिलता हैं। एक बार वे एक प्रसिद्ध मन्दिर में गये। गुरु नानक को छोड़ सभी व्यक्ति विग्रह की ओर मुँह करके बैठे लेकिन वे मूर्ति की ओर पीठ करके ध्यान करने लगे। एक पुजारी ने उन्हें धक्का देकर पूछा कि वे विपरीत दिशा में क्यों बैठे हैं? गुरु नानक ने शान्त स्वर में पूछा, "मैं सही दिशा नहीं जानता। क्या आप मुझे बताएँगे?" मूर्ति की ओर इशारा करके पुजारी ने कहा, "क्यों? क्या तुम्हें वे भगवान् नहीं दिखते?" गुरुनानक ने मुस्कुराकर देवालय से भिन्न दिशाएँ दिखाते हुए कहा, "मुझे तो वहाँ भी दिखते हैं। वस्तुतः मुझे तो सर्वत्र दिखते हैं। क्या तुम मुझे ऐसा स्थान बता सकते हो जहाँ वे न हों? क्या तुम यह कहना

चाहते हो कि भगवान् केवल इस पत्थर की मूर्ति में ही हैं, यही न?" गुरु नानक के लिए सभी दिशाएँ ध्यान के लिए उपयुक्त दिशाएँ थीं।

लेकिन हम अभी आरम्भ ही कर रहे हैं, अत: हमें कुछ नियमों का पालन करना चाहिए। ध्यान करते समय यथासम्भव पूर्व की ओर मुँह करके बैठो। पृथिवी प्रतिदिन पश्चिम-पूर्व दिशा में घूमती है। अत: पूर्व की ओर मुँह करके बैठने से हम उसकी गति की दिशा में बैठते हैं। हम रेल या बस में जिस दिशा में वह चल रही है, उसी ओर मुँह करके बैठते हैं; यह भी उसी प्रकार है। तुम्हें पता होगा कि कुछ लोगों को पीछे की ओर मुँह करके बैठने से चलती मोटर में अस्वस्थता होती है। ऐसा देखा गया है कि ध्यान के समय हमारे स्नायु अत्यंत संवेदनशील हो जाते हैं और जरा सी असुविधा अत्यन्त विक्षेपकारी महसूस होती है। अन्य समय हम इन प्रवाहों के प्रति इतने संवेदनशील नहीं होते लेकिन ध्यान के समय जब हम अपने व्यक्तित्व के सभी अंगों को समरस और सुस्थिर करने का प्रयत्न कर रहे होते हैं, तब यह विपरीत प्रवाह अत्यन्त वेग से अनुभव होता है।

यहाँ एक और तथ्य का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। सोते समय हमारे स्नायुओं को पूर्ण समरसता की स्थिति में होना चाहिए उस समय थोड़ा सा भी विक्षेप अशान्ति और क्षोभ पैदा कर देता है। अत: सिर को पूर्व अथवा दक्षिण दिशा में रखकर पश्चिम अथवा उत्तर की ओर देखते हुए सोना सदा लाभदायक है। अनिद्रा के बहुत से रोगी केवल शैया के पुनर्विन्यास द्वारा सिर को सही दिशा में रखने से ही ठीक हो जाते हैं। और यदि ध्यान के समय पूर्व दिशा में मुँह करके न बैठ सको तो उत्तर दिशा में मुँह करके बैठो। उत्तर दिशा उन्मुख हो बैठने का कारण यह है ध्रुवीय चुम्बकीय तरंगें दक्षिण से उत्तर ध्रुव की ओर प्रवाहमान रहती हैं। उत्तरोन्मुखी हो बैठने से हम इस प्रवाह की दिशा में मुँह करके बैठते हैं और दक्षिण की ओर सिर करके सोने से यह प्रवाह हमारे सिर से पैर की दिशा में प्रवाहित होता है। यहाँ पूर्व-पश्चिम गति से थोड़ा अन्तर दिखाई देगा। पृथ्वी के परिक्रमण में हम भी उसके साथ घूमते हैं लेकिन ध्रुवीय चुम्बकीय प्रवाह में हम प्राय:

स्थिर बने रहते हैं और प्रवाह हमारे ऊपर से प्रवाहित होता है। अत: सोते समय उस दिशा में सिर रखना उचित है जिस दिशा से प्रवाह आ रहा है और ध्यान में उस ओर मुँह करना उचित है जिधर प्रवाह जा रहा है अर्थात् उत्तर दिशा में।

अब काल के विषय में चर्चा करें। योगियों ने प्रयोगों तथा प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा यह पता लगाया है कि एक दिन के चौबीस घण्टों में चार काल ऐसे होते हैं जब प्रकृति कुछ समय के लिए शान्त हो जाती है तथा प्रकृति में सभी कुछ समरस और सन्तुलित हो जाता है। इन अवसरों पर पशु-पक्षी, पेड़-पौधे सभी एक शान्ति का अनुभव करते हैं। इन चार काल खण्डों को सन्धिकाल कहा जाता है जो प्रत्येक पैंतालीस मिनट का होता है। यह सन्धि के साढ़े बाईस मिनट पूर्व प्रारम्भ हो उसके साढ़े बाईस मिनट बाद तक रहता है। प्रथम सन्धिकाल सूर्योदय है, दूसरा मध्यान्ह जब सूर्य भ्रूमध्य को पार करता है, तीसरा सूर्यास्त और चौथा मध्यरात्रि।

योगाभ्यासी साधक को अपनी दिनचर्या और गतिविधियों की व्यवस्था इस तरह करनी चाहिए कि ध्यान के लिए अनुकूल इन समयों का, सबका नहीं तो कम से कम दो का लाभ उठा सके। पृथिवी की गतिविषयक कारण के अतिरिक्त एक और कारण है जिससे, विशेषकर भारत में, ये चार कालखण्ड ध्यान के लिए बहुत अनुकूल माने जाते हैं। अनादिकाल से सभी बड़े-बड़े, स्त्री-पुरुषों में यह परम्परा रही है कि वे ईश्वर या अपने उच्चतम आदर्श का चिन्तन कर इन चार कालों में कुछ समय के लिए शान्ति का आस्वादन करते रहे हैं। सभी योगी और ध्यानपरायण व्यक्ति इन चार कालों में ध्यान करते हैं। अत: भारत में दिन के इन चार कालों में एक अत्यन्त प्रभावशाली आध्यात्मिक प्रवाह का अनुभव होता है।

युवा-संन्यासी के रूप में जब मैं वाराणसी में निवास कर रहा था, तब कभी-कभी किसी कारण मुझे अपना नियमित ध्यान करने की इच्छा नहीं होती थी। लेकिन मेरा सौभाग्य था कि भोर में एक अत्यन्त सशक्त मानवीय अलार्म या पुकार द्वारा मेरी नींद खुल जाती थी जो मुझे जागने

और प्रात:कालीन ध्यान करने का आव्हान करती थी। सूर्योदय के पूर्व एक व्यक्ति आश्रम के पास वाली सड़क से एक सुन्दर भजन गाता हुआ निकलता था। उस गीत के शब्द अभी भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं :

उठ जाग बावरे भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोता रे।
उठ जाग रे आँखे खोल जरा, सारा जग कब का जागा रे।।
स्तुति ईश की पञ्छि गाते हैं तरु-पुष्प चकित हो ताक रहे।
श्रेष्ठ सभी से खुद को माने एक तू ही मानव दम्भ भरा रे।
अलस खाट पर पड़ा पड़ा जीवन निर्लज्ज गँवाता रे।।
उठ जाग बावरे ...

वह अदृश्य गायक उस गीत के बोलों के माध्यम से मुझे मानो सदा एक विशेष सन्देश भेजता था। यह सन्देश आलस्य, निद्रा और तमोगुण के मुझ पर छाए प्रभाव को दूर कर मेरी आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत करने में कभी असफल नहीं हुआ। मैं उस व्यक्ति को, जो मेरे लिए एक रूपविहीन दैवीवाणी के समान था, धन्यवाद देते हुए आभार प्रदर्शन करता हूँ।

अन्य समय बनारस में गंगा के किनारे टहलते हुए मैं हजारों लोगों को सूर्यास्त के समय शान्ति से बैठकर ध्यान करते पाता था। मेरी ध्यान करने की विशेष इच्छा न होते हुए भी परिवेश का अत्यन्त प्रबल प्रभाव मुझे कोई उचित स्थान खोजकर शान्ति से ध्यान में बैठने के लिए बाध्य करता था।

प्रत्येक निष्ठावान योगाभ्यासी जानता है कि सूक्ष्म विचार-तरंगों का ध्यान की साधना पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। फिर भी यदि तुम किसी कारण उपर्युक्त चार अनुकूल सन्धिकालों का लाभ न उठा सको तो ध्यान का समय इस तरह निर्धारित करो कि उसमें कम से कम व्यवधान हो और प्रतिदिन उस समय नियमपूर्वक ध्यान करो। अपने सतत् अभ्यास द्वारा तुम अपने चारों ओर एक वातावरण का निर्माण कर सकोगे और इसके प्रभाव से साधना के लिए प्रेरित होओगे।

मान लो, तुम अपनी घड़ी में प्रतिदिन प्रात:काल आठ बजे चाबी भरने

के अभ्यस्त हो। अब यदि किसी दिन तुम चाबी देना भूल जाओ और तुम्हें अचानक याद आवे कि चाबी भरने का समय हो गया है और तुम अपनी घड़ी में समय देखो तो तुम पाओगे कि उस समय ठीक आठ बजे हैं। ठीक समय पर किसी काम को करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के साथ ऐसा होता है। प्रतिदिन भोर में जल्दी उठने वाले को अलार्म घड़ी की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि उसके स्नायुओं से ही यह कार्य हो जाता है। सर्वदा निश्चित समय पर अपना ध्यान करो और यह समय तुम्हारी साधना को दृढ़ प्रतिष्ठ कर देगा।

अब स्थान के महत्त्व की बात। तुममें से बहुतों को यह अनुभव हुआ होगा कि जब तुम किसी अपूर्व सुन्दर प्राकृतिक दृश्य के बीच होते हो तो अनायास ही तुम्हारा मन अनन्त में उड़ान भरने लगता है। प्रकृति के इस वैभव के समक्ष सांसारिक भाव विलुप्त होते प्रतीत होते हैं। ऐसे स्थान स्वाभाविक रूप से ध्यान के लिए उपयुक्त हैं। यदि सम्भव हो तो ध्यान खुले में करना चाहिए। सुदूर प्रान्तर में दृष्टि निक्षेप करनी चाहिए, और खुले आकाश का चिन्तन करते हुए सभी सीमाओं से परे जाने का प्रयत्न करना चाहिए। सागर के किनारे या पर्वत के शिखर पर अथवा नदी के तट पर अथवा ऐसे ही किसी खुले स्थान में, जहाँ से तुम अपनी दृष्टि दूर, दूर तक ले जा सको, बैठकर विस्तृत आकाश को देखो। तुम देखोगे कि धीरे धीरे तुम्हारे मन में शून्यता का एक भाव आ रहा है। तुम्हारी सभी चिन्ताएँ, क्षुद्र विचार, सीमित भावनाएँ शनैः शनैः दूर हो जाएँगी और तुम स्वाभाविक रूप से ध्यान की स्थिति प्राप्त करने लगोगे।

लेकिन मैं जानता हूँ कि बहुत से लोगों के लिए अपने दैनिक ध्यान के लिए ऐसा परिवेश प्राप्त करना कठिन है। लेकिन गर्मी की छुट्टियों में जब तुम शहर के कोलाहल और उत्तेजनामय वातावरण से दूर जाओ तो प्रकृति माता के शान्तिदायक आकर्षण और प्रभाव से युक्त ऐसे प्राकृतिक ध्यान का आनन्द लेना न भूलो। अपनी छुट्टियों के कम से कम कुछ दिन तो तुम इस तरह बिता सकते हो। उसकी स्मृति तुम्हारे मन में बनी रहेगी

और वर्ष भर तुम्हारी सहायता करती रहेगी।

सुन्दर प्राकृतिक दृश्य के बदले, यदि कर सको, तो एक कमरा अलग से ध्यान के लिए सुरक्षित कर लो। यदि यह सम्भव न हो तो कमरे का एक कोना केवल ध्यान हेतु निश्चित कर लो। उस सुरक्षित कमरे अथवा कोने में ध्यान के अतिरिक्त और कुछ न करो। उसे स्वच्छ रखो और अपने निजी ढंग से उसमें पवित्रता और भगवद्भाव जोड़ने का प्रयत्न करो। यदि कुछ धार्मिक चित्र और प्रतीक तुम्हें अच्छे लगते हों तो उन्हें वहाँ रखो। यदि धूप अथवा सुगन्धित द्रव्यादि से तुम्हारे मन में भगवद्भाव जागता हो तो धूपबत्ती को जलाओ अथवा अगरू आदि को वहाँ छिड़को। यदि पुष्पों में तुम्हें विशेष पवित्रता और धार्मिक भाव दिखाई दे तो पुष्पों को कमरें में सजाओ। जब तुम अपने इस छोटे से देवालय में जाना चाहोगे तो शारीरिक और मानसिक रूप से शुद्ध न होने पर तुम्हें थोड़े संकोच का अनुभव होगा। इस संकोच का तुम्हारे मन पर क्रमशः ऐसा प्रभाव पड़ेगा की उस पवित्र स्थान का स्मरण मात्र ही तुम्हें पर्याप्त सचेत कर देगा तथा तुम्हारे मन से सभी अपवित्र और हीन विचारों को धीरे-धीरे दूर करने में सहायक होगा। अपने देवालय में ध्यान के लिए जाने पर स्थान का पवित्र परिवेश तुम्हारी सत्ता में व्याप्त हो जाएगा और तुम स्वयं को काफी उन्नत अवस्था में पाओगे। वस्तुतः मन्दिर, गिर्जों, देवालयों के निर्माण के पीछे यही मनोवैज्ञानिक कारण है। वस्तुतः बाह्य देवालयों का वास्तविक लाभ और उपयोगिता तो अपने देह और मन को क्रमशः एक देवालय में, परमात्मा के जीवन्त मन्दिर में, सर्वश्रेष्ठ देवालय में, परिणत करना है।

फिर भी मैं तुम्हें स्मरण दिलाता हूँ कि यह केवल एक गौण उपाय है। यह छोटे वृक्ष के चारों ओर उसके बड़े होने तक एक बाड़ लगाने जैसा है। अतः एक छोटे से देवालय तक सीमित मत रहो। अपने कोने में ही न बँध जाओ। सभी स्थान भगवान् के स्थान हैं। प्रत्येक स्थान पवित्र है। दक्षतापूर्वक तैरना सीखने तक हम गहरे पानी में जाने का खतरा मोल नहीं ले सकते। साधना की प्रारम्भिक अवस्था में व्यवधान रहित ध्यानाभ्यास के

लिए हम एक सुविधाजनक स्थान चुन लेते हैं। लेकिन हमें जीवन भर वहीं नहीं अटके रहना चाहिए।

हठयोग नामक योग की एक प्रणाली में आसनों के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया है। लेकिन उस प्रणाली में बताए गए आसन और मुद्राएँ ध्यान और एकाग्रता के लिए अनिवार्य नहीं हैं। अब हम ध्यान की साधना के लिए उपयोगी मुख्य आसनों का वर्णन करेंगे।

एक कुर्सी पर सीधे, उन्नतदेह बैठो। कुर्सी न तो बहुत ऊँची हो, न बहुत नीची, न बहुत कड़ी, न बहुत नरम। अथवा यदि तुम्हें अच्छा लगे तो जमीन पर एक गद्दी पर बैठो। अपने मेरुदण्ड को सीधा रखो और पीठ, कमर और गर्दन को एक सीध में रखो। सिर उन्नत रहे, आँखें अर्धनिमिलित हों तथा मन ही मन भ्रूमध्य में बिना तनाव के अपनी दृष्टि निबद्ध करो। ध्यान के लिए यह सीधा और उन्नत आसन कई दृष्टियों से आवश्यक है। सब से स्पष्ट कारणों में से एक तो यह है कि इससे शरीर के सभी अंग अपनी सही स्थिति में बने रहते हैं। तथा देहतंत्र पर अधिक बोझ डाले बिना अपना कार्य ठीक से करते रहते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह आसन शारीरिक स्वास्थ्य और सामान्य आरोग्य के लिए बहुत उपयोगी है। यदि भौतिक शरीर कोई बाधा न पहुँचाए तो ध्यान करना आसान हो जाता है। ध्यान में हमें देह की विस्मृति हो जानी चाहिए। यदि देह कष्ट दे तो यह सम्भव नहीं होगा।

इस आसन में बैठने का आध्यात्मिक लाभ यह है : जब कभी हम अपने विचारों को उन्नत करने का प्रयत्न करते हैं तब मेरुदण्ड के निम्नतम भाग से एक ऊर्ध्वगामी प्रवाह मस्तिष्क के केन्द्रों की ओर बहने लगता है। मेरुदण्ड की सीधी खड़ी अवस्था में ही उसे ऊपर जाने का व्यवधान रहित खुला मार्ग मिलता है। जरा सी भी बाधा होने पर प्रवाह नीचे की ओर जाने को बाध्य होता है जिससे देह-मन-संयंत्र में प्रतिक्रिया होती है।

जब कभी हम शोक, निराशा और अवसाद के भाव पर विजय पाते हैं तब हमारी मन:स्थिति के प्रथम लक्षण के रूप में हम तत्काल सीधे हो

जाते हैं। इसका स्पष्ट कारण यह है कि निराशा को दूर करने पर मेरुदण्ड के भीतर का प्रवाह हमें सीधे होने को बाध्य कर ऊपर जाने का अपना मार्ग बना लेता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सही आसन बनाए रखने से अवसादपूर्ण विचारों को दूर रखा जा सकता है।

यदि फर्श पर बैठना चाहो तो मैं एक या दो आसन तुम्हें बताऊँगा जिनमें कुर्सी में बैठने की तुलना में कुछ अधिक फायदे हैं। लेकिन बताने से पूर्व मैं याद दिलाना चाहता हूँ कि तुम्हें वे कष्टप्रद और कठिन तथा लाभप्रद के बदले अधिक हानिकारक लग सकते हैं। तुम लोग फर्श पर बैठने के आदी नहीं हो, अतः तुम्हारे जोड़ लचीले नहीं हैं। मैंने कहा है कि फर्श पर बैठने के कुछ फायदे हैं केवल इसलिए अपनी नैसर्गिक प्रकृति के विरुद्ध ऐसा करने का प्रयत्न मत करो। हम हिन्दुओं को बचपन से जमीन पर बैठना सिखाया जाता है। हमारी हड्डियाँ, मांसपेशियाँ और जोड़ ऐसे बने हैं कि हमें पैर लटकाकर कुर्सी पर सीधे बैठना कठिन लगता है। मुझे ऐसा लगता है, पर यदि मैं पालथी मारकर बैठूँ तो मैं अपने शरीर को झुकाए बिना घण्टों बैठ सकता हूँ।

यदि तुम फर्श पर बैठो तो प्रसिद्ध पद्मासन में बैठने का प्रयत्न करो। दाहिने पैर को बायीं जंघा पर और बायें पैर को दाहिनी जंघा पर रखो और तलुओं को ऊपर की ओर रखो। इस तरह जाँघों पर रखे तुम्हारे पैरों से एक तिरछा दबाब तुम्हारे घुटनों को पहले नीचे दबा देगा और बाद में तुम्हारी कमर को सामने की ओर ढकेलेगा। इससे तुम्हारा मेरुदण्ड सीधा होकर बँध जाएगा। इस आसन में ध्यान करने के लिए बैठने पर झुकना असुविधाजनक लगेगा। इस आसन से ध्यान के लिए सही शारीरिक स्थिति प्राप्त होगी।

(आसन के सम्बन्ध में उपर्युक्त कथन से प्रारम्भिक साधक को यह लग सकता है कि अगर ध्यान के लिए जमीन पर ही बैठना हो तो पद्मासन या स्वस्तिकासन में ही बैठना चाहिए। लेखक स्वामी यह मानकर चल रहे हैं कि पाठकों को सुखासन की जानकारी है। यह सुखासन पाश्चात्यवासियों के उपयुक्त है क्योंकि शेष दोनों कठिन हैं। पालथी मारकर बैठने से सामान्यतः सुखासन ही समझना चाहिए। इसमें पैरों के बाहरी और ऊपरी भाग जमीन पर टिके रहते हैं। पद्मासन उच्चतम स्तर के लिए है – सम्पादक)

दूसरा आसन स्वस्तिकासन है। पैरों को जंघा पर रखने के बदले पिण्डली और जाँघ के बीच घुटनों के भीतर घुसा कर रखो। दाहिने पैर का अंगूठा बाएँ घुटने के खोखले में हो। बाँए पैर की अंगुलियों को बाँए हाथ से पकड़ो और दूसरे हाथ को दाहिने पैर के नीचे डालकर बाएँ पैर की अंगुलियों को दाहिने घुटने के खोखले में डाल दो। हथेलियों को अपनी गोद में, दाहिनी को बायीं पर ऊपर की ओर किए रखो। पद्मासन की तरह इस आसन का भी लाभ यह है कि यह आसन भी एक तनाव पैदा करता है जिससे मेरुदण्ड पूरी तरह सीधा हो रहता है। स्वस्तिक शब्द का अर्थ है शान्ति और सफलता और पद्म का अर्थ है कमल।

इतना सब होते हुए भी यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि जमीन पर बैठने से अथवा किसी आसन विशेष में बैठने से सिद्धि प्राप्त नहीं हो जाती। तुम्हें नियमित अभ्यास तथा सम्यक् जीवन द्वारा अपने मन को नियंत्रित करना होगा। आसनादि अन्य उपायों का सहायक अंगों के रूप में अनुष्ठान करना चाहिए। और यदि फर्श पर बैठने में कठिनाई हो तो कुर्सी पर अवश्य बैठो। जो अन्य नहीं कर सकते उसे करने के दर्प या कुतूहल से प्रेरित मत होओ।

अब प्राणायाम की चर्चा करें। श्वास-प्रश्वास हमारी मन:स्थिति का सुस्पष्ट सूचक है। किसी व्यक्ति के श्वास-प्रश्वास को देखकर बड़ी आसानी से उसके मानसिक गठन का पता लगाया जा सकता है। जिसका श्वास-प्रश्वास दूसरे सुन सकें, जो भारी, स्थूल, असन्तुलित अथवा हल्का श्वास लेता है वह असुसंस्कृत मन वाला व्यक्ति होता है। एक विशेष प्रकार का लघु श्वास अल्पायु का संकेतक है। सत्य तो यह है कि कोई भी मानसिक विक्षेप तत्काल श्वास की अनियमितता में परिलक्षित होता है। जब कभी हम उद्विग्न, क्रोधित अथवा किसी वासना से अभिभूत होते हैं तब हमारी श्वास असम और छिछली हो जाती है। इसके विपरीत श्वास-प्रश्वास शान्ति और स्थैर्य के संकेतक हैं। गहरी और संयमित श्वास-प्रश्वास द्वारा हम चञ्चल मन को आसानी से नियंत्रित कर सकते हैं।

प्राणायाम, अर्थात् सम्यक् श्वास-प्रश्वास के विज्ञान की शिक्षा ध्यान-साधना के सहायक अंग के रूप में दी जाती है। निम्नोक्त पद्धति सबसे आवश्यक, मूलभूत और महत्त्वपूर्ण विधि है तथा ध्यानाभ्यासी साधक को इसका प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए।

प्राणायाम की प्रथम विधि :

अपने फेफड़ों की पूरी शक्ति के साथ बिना आवाज किए गहरी साँस लो। अब बिना रोके उतने ही धीरे-धीरे और हल्के से साँस को वही लय बनाए रखकर बाहर निकालो।

लय का हमारे कल्याण तथा भौतिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक प्रगति में विशेष स्थान है। लयपूर्वक किए गये प्रत्येक कार्य का हमारे देह-मन-संयंत्र पर शान्तिकर और विश्रामदायक प्रभाव पड़ता है जबकि लय खण्डित होते ही विभ्रम और अव्यवस्था पैदा हो जाती है। इसलिए श्वास-प्रश्वास के तबले को बेताल नहीं होने देना चाहिए। गहरी और लयबद्ध श्वास के द्वारा हम बहुत से शारीरिक एवं मानसिक विक्षेपों को दूर कर सकते हैं।

हिन्दू योगियों ने प्राण-विज्ञान का सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन किया है तथा उस विषय में अनेक प्रयोग किए हैं। यहाँ तक कि उन्होंने हमारी समस्त मानवीय गतिविधियों में सफलता और सम्यक् सुखभोग के लिए अलग-अलग प्राणायाम विधियाँ खोज निकाली हैं। योगियों का कथन है कि विभिन्न प्रकार के प्राणायामों से वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ, इन पाँच कर्मेन्द्रियों को सुचारु रूप से नियंत्रित और संयत किया जा सकता है।

प्राणायाम की द्वितीय विधि :

पूर्वोक्त कथनानुसार सही आसन में बैठो। दाहिने हाथ के अंगूठे से दाहिने नासा पुट को बन्द करो और बाँये नासिका रन्ध्र से धीरे-धीरे श्वास अन्दर खींचो। ऐसा करते समय बाँये हाथ की अंगुलियों पर चार की गिनती करो। 'ओम्' शब्द का मन ही मन दीर्घ उच्चारण करते हुए गिनती के लिए उपयोग करो अर्थात् चार ओंकार में श्वास अन्दर खींचो। इसके बाद बायाँ

नासा-पुट भी दाहिने हाथ की अनामिका और मध्यमा अंगुलियों द्वारा दबा कर बन्द कर दो। दोनों नासिकारंध्रों को बन्द किये अंगुलियों पर सोलह बार 'ओम्' की गिनती करते हुए श्वास रोके रखो। इसके बाद दाहिना नासा-रन्ध्र खोल दो और धीरे-धीरे आठ बार 'ओम्' की गिनती करते हुए श्वास बाहर निकाल दो।

अब बिना व्यवधान के इसी प्रक्रिया को विपरीत दिशा से करो अर्थात् दाहिनी ओर से श्वास लो, दोनों नासिका रन्ध्रो को बन्द कर श्वास रोको और बायें नासारन्ध्र से बाहर निकालो। ओम् की गिनती उतनी ही बार अर्थात् क्रमशः चार, सोलह और आठ बार करो। यह एक पूरा प्राणायाम हुआ। नासिका.रन्ध्रों को एक के बाद एक बदलते हुए यह करते जाओ। प्रतिदिन दो बार तीन प्राणायाम करो। यदि तुम समय-अवधि बढ़ाना चाहो तो ४-१६-८ के अनुपात में बढ़ाओ यथा ६-२४-१२ लेकिन ऐसा धीरे-धीरे करना चाहिए जिससे अधिक कठिनाई न हो।

(यहाँ लेखक स्वामी द्वारा कही गई प्राणायाम की मात्राओं को विशेषज्ञ के मार्ग दर्शन बिना बढ़ाना अथवा उनके द्वारा बतायी गयी कम से कम संख्या से आगे बढ़ना बुद्धिमानी का कार्य नहीं होगा। इस परम्परागत चेतावनी के कारण पर लोग शंका करते हैं। वह यह है : प्राणायाम अप्राकृतिक उपाय से हमारे देहयंत्र में विद्यमान ऊर्जा को जगाता है। यदि साधक पर्याप्त प्रगति कर इस ऊर्जा के नियंत्रण में समर्थ न हो तो यह ऊर्जा कुछ लोगों में तथा कुछ परिस्थितियों में शारीरिक, मानसिक अथवा नैतिक सत्यानाश कर सकती है। सम्भवत: किसी को लगे कि प्राणायाम (श्वास निरोध) न करने से उसकी कुछ हानि हो रही है। इस सन्दर्भ में यह याद रखना चाहिए कि सभी साधनाओं से अनायास ही प्राणायाम (सही अर्थों में प्राण अर्थात् शारीरिक एवं मानसिक स्तर पर कार्यरत ऊर्जा का नियमन) हो जाता है तथा प्रसुप्त आध्यात्मिक ऊर्जा जागृत होती है। लेकिन ऐसा स्वाभाविक और बिना खतरे के, किन्तु अधिक धीरे होता है। – सम्पादक)

मैंने मेरुदण्ड में उठने वाले शक्ति प्रवाह का उल्लेख किया है। मेरुदण्ड में विद्यमान मार्ग को सुषुम्ना कहते हैं। इसके दोनों और ईडा और पिंगला नामक दो प्रवाह हैं। इनका विस्तृत विवेचन बाद में किया जाएगा। उपर्युक्त प्राणायाम के समय जब तुम दोनों नासिका रन्ध्र बन्द कर श्वास भीतर रोको तब अपने आप ऐसा प्रबल संकल्प करो कि जिस ऊर्जा (श्वास नहीं) को

तुमने रोक रखा है वह ईडा, पिंगला और सुषुम्ना के मिलनस्थान मेरुदण्ड के निम्नतम स्थान तक पहुँच गयी है। सोचो कि सुषुम्ना के निम्नतम स्थान में यह ऊर्जा इस मार्ग को जो बन्द अथवा रुद्ध हो गया है खोलने के लिए जोर से दबाव डाल रही है। यदि तुम पूर्वोक्त चारों सन्ध्याओं के समय ध्यान करते हो तो इस प्राणायाम का ध्यान के पूर्व दो बार अभ्यास करने का, विशेषकर चौथे ध्यान के पूर्व, करने का प्रयत्न करो।

प्राणायाम की तीसरी विधि :

योगियों ने निम्नोक्त प्राणायाम पद्धति की बहुत प्रशंसा की है। इसके अभ्यास से व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक हो जाता है, विश्व बन्धुत्व की भावना जागती है, मन प्रसन्न रहता है तथा शारीरिक सौन्दर्य, वाणी के माधुर्य और आयु में वृद्धि होती है। यह प्रणाली अत्यन्त सरल है तथा कभी भी की जा सकती है।

ओठों को सिकोड़कर सीटी बजाने की स्थिति में लाओ। इसके बाद धीरे-धीरे श्वास अन्दर खींचो और फेफड़ों को पूरा भर लो। अब ओठ बन्द कर लो और एक घूँट लेकर मुँह बन्द रखे हुए नासिका से श्वास बाहर निकालो। इस विधि को अपनी सुविधानुरूप दिन में जितनी बार चाहो, किया जा सकता है। खुले स्थान में इसका अभ्यास करने से बहुत लाभ होता है। इससे निराशा, अवसाद, शोक, निरुत्साह तथा विभिन्न मनोग्रन्थियों से अप्रभावित रहने की शक्ति मिलती है।

अवश्य, प्राण के नियमन में बहुत सी बातें हैं जिनके विस्तार में मैं नहीं जा रहा हूँ। लेकिन मैं तुम्हें याद दिलाना चाहता हूँ कि सभी विषयों में विस्तारित विवरण होता है। मौलिक सिद्धान्त को हृदयंगम करने के बाद परिस्थिति के अनुसार स्वयं को ढाला जा सकता है। सामान्य नियम यह है कि श्वास-प्रश्वास को गहरा और लयबद्ध रूप से करना सबसे महत्वपूर्ण और लाभदायक है। ऐसा होने पर ध्यान करना आसान हो जाएगा, और उसमें अधिक बाधाएँ नहीं होंगी। हमारा उद्देश्य विभिन्न प्रकार से श्वास लेना

नहीं है, बल्कि देह और मन को शान्त एवं स्थिर करना है, ताकि वे हमारे मुख्य उद्देश्य, ध्यान में बाधा न बनें।

कुण्डलिनी जागरण :

कुण्डलिनी के विषय में चर्चा करने के पूर्व मैं इन ध्यान-प्रणालियों के पीछे निहित सिद्धान्त के बारे में बताना चाहूँगा। सभी छह भारतीय दर्शन प्रणालियों का सार इस एक वाक्य में संक्षेपित किया जा सकता है :"प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। अन्त: प्रकृति एवं बहि:प्रकृति के नियमन द्वारा उस अन्तर्निहित ब्रह्मत्व को व्यक्त करना जीवन का लक्ष्य है।" (स्वामी विवेकानन्द)। हिन्दू धर्म के सभी मतवादों तथा योग की विभिन्न शाखाओं का यह चरम निष्कर्ष है कि हम जीवन में जो कुछ उपलब्धि करना चाहते हैं, वह हमारे भीतर विद्यमान है। आध्यात्मिक ही नहीं, अपितु भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का अनन्त भण्डार हमारे भीतर है। यदि हमें उस अनन्त भण्डार से सम्पर्क स्थापित करने का उपाय पता चल जाए तो जीवन में हमें किसी भी वस्तु की कमी नहीं रहेगी। हमारी सभी आवश्यकताएँ, माँगें, आशाएँ और आकांक्षाएँ भीतर से ही पूर्ण हो जाएँगी।

इस आधारभूत सिद्धान्त को स्वीकार कर विभिन्न योग-सम्प्रदायों ने अन्तर्निहित देवत्व को जगाने के उपाय खोजे। यह किसी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति का या अर्जन का प्रश्न नहीं है, अपितु यह तो जागरण अथवा अभिव्यक्ति का विषय है जिस पर विभिन्न दर्शनशास्त्रों ने विवेचन तथा विभिन्न योग प्रणालियों ने प्रयोग किए हैं। अत: तुम्हें इस सुनिश्चित निष्कर्ष को सदा याद रखना चाहिए कि जिस उच्चतम सिद्धावस्था को तुम प्राप्त करना चाहते हो वह ठीक उसी प्रकार तुममें विद्यमान है जिस प्रकार एक विशाल वृक्ष के रूप में विकसित होने की सम्भावना एक छोटे से बीज में विद्यमान रहती है। हम अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में जो कुछ होना चाहते हैं वह अत्यन्त सूक्ष्म अव्यक्त सम्भावना के रूप में हममें विद्यमान है। प्रश्न यह है कि पूर्णता के इस अनभिव्यक्त बीज की अभिव्यक्ति कैसे हो। तंत्रशास्त्र की एक विशेष

योगप्रणाली में इस उपाय का वर्णन है जिसका अब हम विवेचन करने जा रहे हैं।

मैं इस शास्त्र की अति संक्षिप्त जानकारी तुम्हें दूँगा। तुममें से अनेक राजयोग के महान् प्रणेता महर्षि पतञ्जलि के नाम से परिचित होगे। ऐसी मान्यता है कि वे बुद्ध के बाद तथा ईसा के पूर्व तीसरी से पाँचवी शताब्दी में हुए थे। उनके योगसूत्रों में तंत्र-योग विद्या की पद्धति का केवल उल्लेख मात्र हमें मिलता है। लेकिन इसके काफी बाद, लगभग सन् ६०० से ७०० ईसवी के मध्य तंत्रशास्त्र नामक एक पृथक् अध्यात्म-विद्या-सम्प्रदाय का विकास हुआ। तंत्र शब्द का अर्थ है 'अनुशासन के नियम'। तंत्र साहित्य विपुल है। तंत्रों के नाम से कुल चौंसठ ग्रन्थ हैं जो उसी एक विषय का विवेचन करते हैं। इस साधन प्रणाली के प्रणेता का नाम हमें मालूम नहीं है। ध्यानपूर्वक तथा सूक्ष्म आलोचनात्मक दृष्टि से तंत्र साहित्य का अध्ययन करने पर इस बात पर विश्वास हो जाता है कि इस रहस्यमय व्यावहारिक दर्शन प्रणाली का प्रचलन वैदिक युग में भी था तथा यह सदियों से अविच्छिन्न रूप से हस्तान्तरित होती आयी है। कुछ तंत्र बौद्ध धर्म की अवनति और पतन के बाद के वैदिक पुनरुत्थान काल के हैं। परवर्ती काल के अनेक तंत्रों में वैदिक और औपनिषदिक धर्मों की पुनर्प्रतिष्ठा के प्रयत्नों के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। इन धर्मों का प्रचलन, बौद्ध धर्म के उत्थान के कारण, जो भारतवर्ष के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गया था, बन्द हो गया था।

हम तंत्र-दर्शन की अन्य दर्शनों से तुलना करें। जिस चरम सत्य को वेदान्ती ब्रह्म तथा सांख्यवादी पुरुष कहते हैं, उसे तांत्रिक लोग शिव कहते हैं। वेदान्तानुसार माया ब्रह्म की वह शक्ति है जिसकी सहायता से ब्रह्म जगत की सृष्टि करता है (या करता सा दिखाई देता है)। सांख्यदर्शन में उसे प्रकृति कहा जाता है और तंत्रों में उसे शक्ति कहते हैं। तांत्रिकों का लक्ष्य चरम सत्य, अर्थात् शिव और शक्ति का मिलन अथवा अद्वैत सत्य की अनुभूति करना है। तांत्रिकों का विश्वास है कि शक्ति के द्वारा वे शिव का साक्षात्कार कर सकते हैं। अत: वे वेदान्तियों की तरह जगत् सर्जक शक्ति का बाध

करने का प्रयत्न नहीं करते बल्कि उसकी उपासना कर उसकी सहायता से शिव, अर्थात चरम चैतन्यावस्था को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। शक्ति देवी जगन्माता कहलाती है। तंत्रों के उपदेश पुरातन हिन्दू धर्म में समा गये हैं तथा उनका प्रचलन भारत के उत्तर-पूर्व प्रदेशों में विशेष रूप से है।

तंत्रशास्त्र एक अंतरंग योग विद्या है। अत: इसके साथ सर्वदा रहस्य और गोपनीयता का भाव जुड़ा रहा है। और भारत में भी उसके विषय में सदा गलतफहमियाँ विद्यमान रही हैं। यदि कोई बात गुप्त हो तो लोग उसके विषय में सकारात्मक के बदले कुछ नकारात्मक कल्पना करते हैं। मानव की यह दुर्बलता है। सामान्य जनता को तंत्रशास्त्रों की विषयवस्तु के बारे में, जो एक प्रकार की सांकेतिक भाषा में लिखे गये हैं; कभी भी अधिक जानकारी नहीं थी। जिस प्रकार भारत वेदों के उद्धार के लिए मेक्समूलर का सदा आभारी रहेगा, उसी प्रकार तंत्रों की तालपत्रांकित कीटभक्षित पुरानी पाण्डुलिपियों के उद्धार के असाधारण कार्य के लिए एक समय कलकत्ता के मुख्य न्यायाधीश सर जान वुडरोफ का नाम भारत में सदा आदरपूर्वक स्मरण किया जाएगा। उन्होंने सभी उपलब्ध पाण्डुलिपियों को एकत्र किया, उनके गूढ़ अर्थ समझने के लिए अनेक हिन्दू पण्डितों को लगाया और उसके बाद उनका अंग्रेजी में अनुवाद, सम्पादन, और मुद्रण करवाया। वे तंत्रशास्त्र द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को अत्यन्त सम्मान प्रदान करते थे और यह कार्य उसके प्रति उनकी भक्ति का ही परिणाम था। सर जान वुडरोफ ने आर्थर एवलॉन के छद्मनाम से तंत्रशास्त्र के विषय में कई प्रसिद्ध पुस्तकों का प्रणयन किया।

जैसा कि मैं कह चुका हूँ कि तंत्र सहित हिन्दुधर्म तथा योगशास्त्र की सभी शाखाओं द्वारा जो मौलिक और अपरिहार्य तत्त्व स्वीकार किया गया है वह यह है कि मानव स्वरूपत: दिव्य है तथा धर्म और योग का लक्ष्य उन उपायों और साधनों का निर्देश देना है जिनके सम्यक् अनुष्ठान से अव्यक्त पूर्णता को पूरी तरह अभिव्यक्त किया जा सके। इसके फलस्वरूप हिन्दू ऋषियों ने अनेक साधन-पद्धतियों का आविष्कार किया और उपदेश दिया जो सभी

योग नाम से अभिहित होती हैं।

अपने निरीक्षण और प्रयोगों के आधार पर तंत्रशास्त्र के प्रणेता ऋषि इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पूर्णत्व की सम्भावना एक अत्यन्त सूक्ष्म आध्यात्मिक बीज के रूप में मानव में विद्यमान रहती है। ये पुरातन मनीषि सुन्दर उपमाओं, रूपकों और गहरे सांकेतिक प्रतीकों की सहायता से चिन्तन करते तथा विचारों को अभिव्यक्त करते थे। प्रसुप्त सर्प के रूपक के माध्यम से उन्होंने अव्यक्त पूर्णता को वर्णित किया और उसे कुण्डलिनी का नाम दिया। इसका शाब्दिक अर्थ है : कुण्डलाकारा (सर्प)। जब सर्प निष्क्रिय रहता है अथवा दीर्घकाल तक विश्राम करता है तब वह कुण्डली मारकर एक गठरी सा होकर पड़ा रहता है। वह प्राणहीन दिखाई देता है। लेकिन क्या हम मान लें कि शक्तिशाली सर्प मरा पड़ा है? नहीं, वह पुन: उठ जायेगा। वह उसकी पूर्ण अभिव्यक्त स्थिति होगी। पहले वाली स्थिति प्रसुप्त, अनभिव्यक्त, निष्क्रिय स्थिति है। तात्पर्य यह कि यह कुण्डलिनी शक्ति, जिसका कुछ लोगों ने अंग्रेजी में 'Serpent Power', याने सर्पशक्ति अनुवाद किया गया है, एक रूपक मात्र है। आधुनिक भाषा में अनभिव्यक्त शक्ति के रूप में अनुवाद पूर्ण युक्तियुक्त होगा। इस दर्शनशास्त्र की प्रतिष्ठा के समय मानव समाज ने युक्तियुक्त वैज्ञानिक रूप में सत्यों को व्यक्त करने की क्षमता अर्जित नहीं की थी। 'अनभिव्यक्त' नामक आधुनिक शब्द में निहित भाव को प्रतीकात्मक रूप से व्यक्त किया गया था। मेरे मतानुसार आधुनिक शब्द 'अनभिव्यक्त' में निहित भाव को व्यक्त करने के लिए 'कुण्डलाकार प्रसुप्त सर्प' से अधिक सुन्दर और कवित्वपूर्ण उपमा और नहीं हो सकती।

परन्तु इस भाव को अभिव्यक्त करने हेतु अनुवाद में Serpent Power या 'सर्पशक्ति' शब्दों के प्रयोग से उसके विषय में अनेक हास्यास्पद गलतफहमियाँ उत्पन्न हो गई हैं। बहुत से लोगों को इसके सिद्धान्त के सम्बन्ध में एकदम गलत जानकारी है। वे समझते हैं कि यह एक खतरनाक साधना है। ऐसा लगता है कि कुछ लोग तो कुण्डलिनी को परियों की कहानी का सोया हुआ राक्षस समझते हैं। मैं यह बात एकदम स्पष्ट करना चाहूँगा कि

अपनी अन्तर्निहित पूर्णता को जाग्रत करने में कोई खतरा नहीं है। वस्तुत: यह खेद की बात है कि हम लोग ऐसा करना नहीं जानते। हम दिव्य हैं। लेकिन अनादि काल से अपने देवत्व को सुप्त रखने के कारण हम पृथिवी के कीट सदृश हो गये हैं।

इस दर्शन तथा योग प्रणाली के अनुसार मेरूदण्ड के मूल में एक स्थान में कुण्डलिनी अथवा यह अव्यक्त शक्ति निष्क्रिय पड़ी रहती है। सिद्धान्त यह है कि हम जिन सभी ऊर्जाओं को जीवन में सञ्चित अथवा अभिव्यक्त करते हैं, वे मेरुदण्ड में स्थित तीन नाड़ियों के माध्यम से प्रवाहित होती हैं। मेरूदण्ड के बीच में, मूलाधार से लेकर मस्तिष्क में अवस्थित केन्द्र तक, इन तीनों में से सबसे सूक्ष्म और महत्त्वपूर्ण सुषुम्ना नाड़ी स्थित है। इस मध्यस्थित नाड़ी को अंग्रेजी आठ '8' के आकार में वेष्टित किए अन्य दो नाड़ियाँ हैं। इस आठ 8 अंकाकार के बायीं ओर तथा दोनो (नाड़ियों) के काट (क्रासिंग पाइंट) के ऊपर की दाहिनी ओर इडा है और (इसी प्रकार से) विपरीत अर्धभाग में पिंगला। ये तीनों नाड़ियाँ एक दूसरे से तीन स्थानों पर मिलती हैं : मेरुदण्ड के मूल में, गर्दन में तथा भ्रूमध्य में। मेरुदण्ड के मूल में ईड़ा, पिंगला और तीसरी नाड़ी सुषुम्ना के भीतर की नलियाँ एक दूसरे से संयुक्त रहती हैं लेकिन शेष दो मिलन बिन्दुओं पर वे एक दूसरे को बाहर-बाहर काटती भर हैं, भीतर से परस्पर मार्ग प्रदान नहीं करतीं (देखिए चित्र ३)। सामान्य व्यक्ति में सुषुम्ना के भीतर का मार्ग पूर्णत: अवरुद्ध रहता है। ऊर्जा 8 (अंग्रेजी आठ) के आकार में केवल इडा और पिंगला के माध्यम से प्रवाहित होती रहती है। सुषुम्ना का ऊर्ध्वगामी मार्ग जिस पदार्थ से बंद रहता है, वह है कुण्डलिनी की सुप्तावस्था। वस्तुत: उसे वस्तु नहीं कहना चाहिए। वह अतिसूक्ष्म अव्यक्त ऊर्जा होती है। मूलाधार में इडा और पिंगला की तुलना U आकार की एक नाली से की जा सकती है जिसके मध्य में तीसरी नाड़ी आकार मिलती है। कल्पना करो कि नीचे जमे किसी पदार्थ ने बीच वाली नाली को बन्द कर दिया है और केवल U आकार वाली नाली ही खुली है। जहाँ तक नाली के खुले और बन्द होने का प्रश्न

चित्र १ चित्र २ चित्र ३
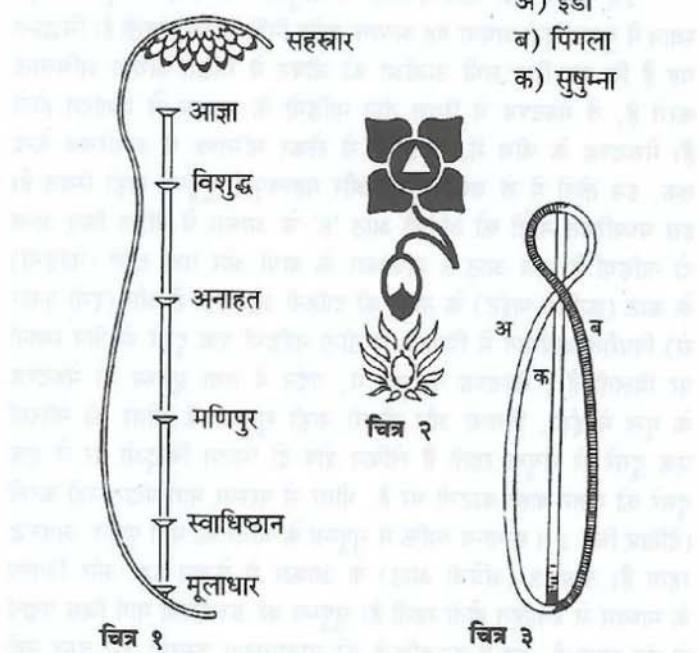
है, सामान्य व्यक्ति की यह स्थिति है। सुषुम्ना को बन्द करने वाला तल में जमा पदार्थ हमारी अविकसित आध्यात्मिकता है। योगीगण प्राणायाम और ध्यान की विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा इस मध्यम मार्ग को खोलने का प्रयत्न करते हैं।

पिछले प्रवचन में हमने सुषुम्ना को खोलने के लिए विशेष प्राणायाम (द्वितीय प्रणाली) का वर्णन किया था। कुण्डलिनी जागरण के लिए उस विधि का विधान किया जाता है। कुण्डलिनी के जाग्रत् होते ही एक प्रकार की अग्नि प्रज्वलित होती है, जो सुषुम्ना के मूल में अत्यन्त सूक्ष्म आध्यात्मिक अर्थों में ऊष्णता और प्रकाश पैदा करती है। कुण्डलिनी के जागृत होने पर योगी मेरुदण्ड के निम्न भाग में सचमुच अपूर्व सुखद उष्णता एवं प्रकाश का अनुभव करते हैं। इसके बाद जागृत कुण्डलिनी को अत्यन्त प्रतीकात्मक ध्यान की सहायता से ऊपर ले जाया जाता है जिसके फलस्वरूप मानव में उच्च से उच्चतर आध्यात्मिक सद्गुणों का विकास होता है।

मानव के उच्चतर सद्गुणों के विकास की प्रक्रिया का, प्रस्फुटित हो रहे पद्मों के अत्यन्त सुन्दर रूपकों की सहायता से, बड़े कवित्वमय रूप में वर्णन किया गया है। खिलने के बाद पद्म अपने नाल पर काफी देर तक (यथावत्) बना रहता है लेकिन प्रति सायंकाल सूर्यास्त के बाद वह संकुचित हो मुरझा जाता है। अगले दिन सूर्योदय के साथ वह पुन: सीधा होकर शनै: शनै: पूर्ण प्रस्फुटित हो अपना सौन्दर्य बिखेरता है। इस सुन्दर अर्थपूर्ण प्राकृतिक प्रक्रिया का ऋषियों ने अध्ययन किया और उसे मानव व्यक्तित्व में ज्ञानालोक के उदय से आध्यात्मिक सद्गुणों के विकास के अपूर्व प्रतीक के रूप में ग्रहण किया। जैसे जैसे कुण्डलिनी का प्रकाश सुषुम्ना के माध्यम से ऊपर बढ़ता जाता है, वैसे वैसे विभिन्न केन्द्रों अथवा चक्रों को छूता तथा प्रकाशित करता जाता है, जिन्हें पद्मों के प्रतीकों के रूप में बताया गया है। कुण्डलिनी के प्रकाश के पहुँचने के पूर्व तक ये पद्म मानो झुके, मुरझाए, शिथिल और म्लान पड़े रहते हैं, लेकिन कुण्डलिनी की ज्योति का स्पर्श पाते ही वे पद्म सीधे खड़े होकर पूर्ण विकास और सौन्दर्य प्राप्त

करते हैं (चित्र २)। इस प्रकार कुण्डलिनी की ज्योति उच्च से उच्चतर स्तर पर आरोहण करते हुए मानव के विकास के विभिन्न स्तरों को तब तक प्रस्फुटित करती जाती है जब तक वह चेतनावस्था के सभी स्तरों को पार कर अतिचेतनावस्था अथवा अतीन्द्रिय स्तर तक नहीं पहुँच जाती। इस अवस्था को मस्तिष्क-केन्द्र में स्थित सहस्रदल पद्म के प्रतीक द्वारा दर्शाया गया है। इसकी कल्पना अनन्त सच्चिदानन्द के ज्योति-समुद्र के रूप में की गई है। कुण्डलिनी की छोटी सी ज्योति सारे रास्ते से ऊपर चढ़ती हुई सहस्रदल पद्म की अनन्त ज्योति में विलीन हो जाती है। तब उच्चतम समाधि अवस्था की प्राप्ति होती है।

कृपया मुझे कुछ क्षणों के लिए विषयान्तर करने दें। जैसा कि आप में से कई लोग जानते हैं, श्रीरामकृष्ण ने कुछ समय तक ध्यान की इस पद्धति का अभ्यास किया था। आप जानते हैं, उन्होंने सभी प्रकार की साधनाएँ की थीं तथा सभी धर्मों के माध्यम से सत्य का साक्षात्कार किया था, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि वे सब आध्यात्मिक सिद्धि लाभ के उपयुक्त मार्ग हैं। वे प्राय: अपनी अनुभूतियों का वर्णन अपने शिष्यों से किया करते थे। इस साधना-पद्धति का वर्णन करते हुए उन्होंने बताया था कि किस प्रकार कुण्डलिनी आरोहण करती है। वे कहते थे कि कभी आरोहण पक्षी के एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र तक फुदकने जैसा होता है। कभी वह मछली के जल में विचरण के समान होता है तो कभी बन्दर का वृक्ष की एक डाल से दूसरी डाल पर कूदने की तरह। सभी प्रकार की साधना पद्धतियों का अभ्यास कर श्रीरामकृष्ण ने उनके मूल तत्त्वों को प्रकट किया और उनकी त्रुटियों को दूर कर दिया। तंत्रशास्त्र उसके आचार्यों और साधकों की दुर्बलताओं के कारण बदनाम हो गया था। श्रीरामकृष्ण ने इस ध्यान-साधन-पद्धति का सफलतापूर्वक समर्थन किया और उसे आध्यात्मिक साधना के एक शुद्ध और श्रेष्ठ उपाय के रूप में प्रतिष्ठित किया। स्वयं इन साधना पद्धतियों का अनुष्ठान कर उन्होंने यह सिद्ध किया कि इन ध्यान-पद्धतियों का अवलम्बन कर उच्चतम आध्यात्मिक लक्ष्य पाया जा सकता है। अब मैं आपको

अन्तर्निहित अव्यक्त पूर्णता को व्यक्त करने के लिए कुछ साधनाएँ बताऊँगा।

ध्यान की चतुर्थ पद्धति :

अपने प्रतिदिन के आसन पर पूर्व निर्दिष्ट सही तरीके से बैठो। इसके बाद पूर्व वर्णित प्राणायाम की द्वितीय प्रक्रिया को धीरे-धीरे सरलतापूर्वक करो। इसके साथ-साथ मूलाधार से मस्तिष्क केन्द्र तक एक ज्योतिर्मय नाड़ी की कल्पना करो। ऐसी भावना करो कि प्राणायाम तथा तुम्हारे चिन्तन की शक्ति से इस नाड़ी के नीचे का मार्ग साफ हो गया है तथा आध्यात्मिक ऊर्जा का सतत प्रवाह इडा और पिंगला के मिलन से निर्मित U आकार वाली नाली से इसमें प्रवाहित हो रहा है। इस प्रवाह के अन्दर प्रवेश के कारण कुण्डलिनी जाग्रत् हो गई है तथा उसने मोमबत्ती की ज्योति के समान एक छोटी सफ़ेद, घनी किन्तु कोमल और सुखप्रद ज्योति का रूप धारण कर लिया है। यह ज्योति सुषुम्ना नाड़ी के माध्यम से धीरे-धीरे ऊपर चढ़ रही है।

यह ज्योति अब सुषुम्ना के भीतर निम्नतर प्रदेश से थोड़ा ऊपर प्रतीकात्मक पद्म के रूप में स्थित प्रथम केन्द्र को स्पर्श और प्रकाशित करती है। यह केन्द्र मूलाधार कहलाता है। ज्योति का स्पर्श होते ही कमल की झुकी हुई कली खड़ी होकर उज्ज्वल रक्त वर्ण के चार पंखुड़ियों वाले सुन्दर कमल के रूप में प्रस्फुटित हो उठती है। इसके भीतर इसी रंग का एक वृत्त होता है। (चित्र २)

अब सोचो कि कुण्डलिनी की ज्योति धीरे-धीरे और ऊपर चढ़ रही है और सुषुम्ना में स्थित जननेन्द्रिय के स्तर पर स्थित दूसरे केन्द्र तक पहुँच गई है। यह केन्द्र स्वाधिष्ठान कहलाता है। ज्योति इस केन्द्र की मुरझायी और झुकी हुई कली को स्पर्श और प्रकाशित करती है। कली एक वृत्त युक्त छः पंखुड़ी वाले सिंदूरी रंग के पद्म के रूप में खिल उठती है।

अब इस पद्म को छोड़कर कुण्डलिनी की ज्योति के साथ ऊपर चलो। वह अब नाभि-स्तर पर स्थित अगले केन्द्र में पहुँचती है। मणिपुर नामक

इस केन्द्र में दस पंखुड़ियों वाला अरुण-वर्ण-पद्म और उसी रंग का वृत्त है। कुण्डलिनी की ज्योति मुरझायी कली को अपनी नाल पर सीधा खिला कर स्वस्थ, सुन्दर और प्रकाशमय बना देती है।

कुण्डलिनी की ज्योति और ऊपर बढ़ती हुई हृदय के स्तर तक पहुँचती है। यहाँ वह अगली कमल-कली को स्पर्श और प्रकाशित कर उसे स्वस्थ, प्रस्फुटित और सुन्दर बना देती है। प्रस्फुटित द्वादशदल अनाहत पद्म उज्ज्वल नील वर्ण है तथा उसके खिलने पर योगी के व्यक्तित्व में अद्भुत आध्यात्मिक सद्गुणो का विकास होता है।

(ध्यान के विषय में उद्धव को उपदेश देते हुए [श्रीमद्भागवत् एकादश स्कंध] श्रीकृष्ण कहते हैं कि इष्ट का अष्टदल हृदय-कमल पर बैठे ध्यान करना चाहिए। यह स्वामी ज्ञानेश्वरानन्द द्वारा कथित द्वादशदल अनाहत चक्र नहीं है बल्कि आनन्दकन्द नामक पद्म है। (देखिए महानिर्वाण तंत्र ५.५.१३२) रक्तवर्ण अष्टदल आनन्द कन्द पद्म द्वादशदल अनाहत के नीचे स्थित है। महानिर्वाण तंत्र के अनुसार यहाँ इष्ट की मानसिक पूजा और ध्यान करना चाहिए। सम्भवत: श्रीकृष्ण का अर्थ इसी आनन्दकन्द से था। ऐसा कहा जाता है कि आठ पंखुड़ियाँ अष्ट सिद्धियों की प्रतीक हैं।

सर जॉन वुड्रोफ (आर्थर एवलॉन) ने अपनी पुस्तकों 'दि सर्पेण्ट पावर' में चक्रों के अधिकृत वर्णन का अनुवाद किया है। स्वामी के इस अध्याय में कथन से भिन्न वुड्रोफ का कहना है कि मणिपुर का रंग मेघवर्ण है, अनाहत बन्धुक पुष्प के रंग का अर्थात् अरुण वर्ण है और विशुद्धचक्र बैंगनी रंग का है। चक्रों का विस्तृत विवरण कुछ भिन्न है। अत: स्वामी का विवरण सर जान वुड्रोफ के तंत्रों के अनुवाद से थोड़ा भिन्न है। – सम्पादक)

ज्योति और ऊपर बढ़ती है। वह गर्दन के स्तर पर स्थित विशुद्ध चक्र तक पहुँचती है। यहाँ भी झुकी हुई कमल की कली को कुण्डलिनी की ज्योति छूती और प्रकाशित करती है, जो धीरे-धीरे अपनी नाल पर सीधी होकर पूरी तरह खिल जाती है। पूर्ण प्रस्फुटित पद्म की सुन्दर सोलह पंखुड़ियाँ और वृत्त हल्के भूरे रंग के हैं। चेतना के इस स्तर के उद्घाटित होने पर योगी के व्यक्तित्व में अद्भुत आध्यात्मिक सद्गुणों का प्राकट्य होता है। इस आध्यात्मिक चक्र के जाग्रत होने से समग्र देह-मन आनन्द से पूर्ण और ओतप्रोत हो जाते हैं।

ज्योति और आगे बढ़ती है और भ्रूमध्य के स्तर पर पहुँचती है।

कुण्डलिनी की दिव्यज्योति के स्पर्श से आज्ञाचक्र जाग उठता है। मुरझाई कली उठ खड़ी होती हैं और अद्भुत प्रकाश बिखेरती हुई खिल उठती है। इस केन्द्र में इस सुन्दर द्विदल पद्म का श्वेत रंग स्पष्ट रूप से दिखाई देता हैं और इससे प्रसारित हो रहा उज्ज्वल प्रकाश सिर के चारो ओर सुन्दर आभा के प्रभामण्डल का रूप ग्रहण करता है।

चेतना के इस स्तर के उद्घाटित होने पर योगी को ब्रह्माण्ड के गूढ़ रहस्यों का ज्ञान तथा दिव्यज्ञान के फलस्वरूप परमानन्द की प्राप्ति होती है। वह सत्य के सम्मुखीन हो जाता है। ऐसा कुछ नहीं बचता जिसका उसे ज्ञान न हो। उसकी समग्र सत्ता ज्ञानालोक से उद्भासित हो उठती है। वह मानो पूर्ण ज्ञान का रक्तमांसयुक्त देहधारी दिव्य अभिव्यक्त रूप बन जाता है। ज्ञानस्वरूप परमात्मा के साथ एकत्व की अनुभूति उसे अद्भुत आनन्द प्रदान करती है। लेकिन फिर भी थोड़ा अन्तर बना रहता है। द्रष्टा-दृश्य का भाव फिर भी बना रहता है। योगी सत्य को जानता है तथापि उससे पृथक् रहता है। सत्य उसकी अनुभूति का 'विषय' है और वह उसका ज्ञाता है।

अब कुण्डलिनी की ज्योति सुषुम्ना को त्याग कर और ऊपर की ओर बढ़ती है। मस्तिष्क के केन्द्र में पूर्ण सच्चिदानन्दघन की अतीन्द्रिय अवस्था के प्रतीक सहस्रदलपद्म अथवा सहस्रार का स्थान है। अतीन्द्रिय अवस्था की कल्पना उज्ज्वल, प्रखर किन्तु शीतल, शान्तिदायक और सुखकर ज्योति-सागर के रूप में करो। सुषुम्ना नाड़ी को छोड़ते ही कुण्डलिनी की क्षुद्र-ज्योति इस प्रकाश-सागर में प्रविष्ट हो जाती है। जिसप्रकार अनन्तसागर के जल में गिरने से जल की एक छोटी सी बूँद सागर के साथ अभिन्न और एकाकार हो जाती है उसी प्रकार कुण्डलिनी की सीमित ज्योति पूर्ण सच्चिदानन्द की अनन्त ज्योति के साथ एक हो जाती है।

ध्यान में इस अवस्था पर पहुँचने पर सोचो कि तुम्हारे क्षुद्र 'अहं', तुम्हारे सीमित 'अहंकार', तुम्हारे सीमित 'व्यक्तित्व' ने सभी सीमाओं का अतिक्रमण कर लिया है। तुम देह-मन, शत्रु-मित्र रहित हो। तुम अनन्त सत्ता स्वरूप हो। तुम जन्म, रोग, मृत्यु, सुख, दुःख, पीड़ा रहित हो। तुम द्वन्द्वातीत

हो, तुम अनन्त सच्चिदानन्द स्वरूप हो।

निम्नोक्त संकल्प करो :

"मैं न देह हूँ न मन। मैं वही अनन्त सर्वव्यापी सत्ता हूँ। मेरा न कोई मित्र है न शत्रु; न सुख है न दुःख। मैं वही पूर्ण, अपरिवर्तनशील, अमर, अनादि-अनन्त सत्तामात्र हूँ। मैं द्वन्द्वातीत हूँ। मैं अस्पर्श हूँ। मेरे अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नहीं है। मैं पूर्ण हूँ, सब में हूँ, सब हूँ। मैं वहीं हूँ, मैं वहीं हूँ।"

इसी भाव में जितनी देर रह सको, रहो। इसके बाद अन्तिम ध्यान करो जिसका वर्णन अगले प्रवचन में किया जाएगा। इस बीच मैं विभिन्न चक्रों का तात्पर्य बताना चाहता हूँ।

जैसा मैंने पहले कहा है, जिन पद्मों की हम चर्चा करते रहे हैं वे प्रतीक मात्र हैं। क्षण भर के लिए भी यह मत सोचना कि मैं सच्चे पद्मों की बात कर रहा हूँ। ये प्रतीकात्मक पद्म जीव की अनन्त पूर्णता की यात्रा में उपस्थित होने वाली अवस्थाओं के प्रतीक हैं। अत: ये चक्र या पद्म-केन्द्र चेतना के विभिन्न स्तर हैं। प्रथम मूलाधार का शाब्दिक अर्थ है'मूल-आधार' जहाँ (प्रतिकात्मक रूप से) हमारे पूर्व संस्कार सञ्चित रहते हैं। इस स्थान में हमारे सभी पूर्व जन्मों के कर्म अव्यक्त रूप में विद्यमान रहते हैं। यदि कोई इस केन्द्र पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर ले तो अपने पूर्व जन्मों के बारे में सारी जानकारी प्राप्त करने में समर्थ हो जाएगा।

द्वितीय केन्द्र स्वाधिष्ठान अर्थात् जीव का निवास स्थान है तथा यह हमारी समस्त पाशविक शक्तियों का उत्स स्वरूप है। इस केन्द्र पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित करने पर इन शक्तियों को आध्यात्मिक दिशा प्रदान कर उनका श्रेष्ठतम सदुपयोग किया जा सकता है।

तीसरा केन्द्र मणिपुर है, जिसका शाब्दिक अर्थ है – रत्न-मणियों की नगरी। यह केन्द्र सभी सांसारिक सुख, सत्ता, नाम, यश, स्वास्थ्य, शारीरिक सौन्दर्य और समृद्धि – वस्तुत: इस संसार में प्राप्य सभी वस्तुओं की पराकाष्ठा

तथा उनके आध्यात्मिक मूल्य के ज्ञान का स्थान है। व्यक्ति को यह दृढ़ निश्चय हो जाना चाहिए कि सांसारिक वस्तुएँ जीव को स्थायी सन्तोष प्रदान नहीं कर सकतीं। इनका निरीक्षण कर इन्हें मिट्टी के लौंदों की तरह तुच्छ जानकर, ऊपर उठना चाहिए।

प्रत्येक साधक को यह बात सावधानीपूर्वक ध्यान में रखना चाहिए कि जब तक वह मणिपुर को पार नहीं कर लेता तब तक एक स्वाभाविक निम्नगामी खिंचाव कुण्डलिनी की ज्योति को नीचे दबाए रखने का प्रयत्न करता है। अतः इस केन्द्र तक योगी को कठिनाई महसूस होती है। इस केन्द्र से ऊपर उठने तक वह सुरक्षित नहीं होता। किसी अत्यन्त मोहक प्रतीत होने वाली असाधारण वस्तु अथवा घटना के प्रति आकृष्ट और आसक्त होने की सदा सम्भावना बनी रहती है जो उसे गहरे अन्धकार में धकेल सकती है। अतः योगी को मणिपुर से ऊपर उठने तक विवेक की मशाल प्रज्ज्वलित रखनी चाहिए। लेकिन आध्यात्मिक प्रवाह के अगले चक्र, अनाहत, तक पहुँचते ही एक सहायक स्वाभाविक ऊर्ध्वगामी प्रवाह मिलता है। इस अवस्था में योगी अपेक्षाकृत सुरक्षित होता है।

अनाहत का अर्थ है 'अकारण' अथवा 'अक्षुब्ध'। विकास के इस स्तर को प्राप्त करते ही व्यक्ति अत्यन्त आध्यात्मिक हो जाता है। वह सभी प्राणियों के प्रति प्रेम, मैत्री, सहायता, क्षान्ति, शान्ति और सौहार्द्र का सन्देशवाहक बन जाता है। उसका प्रेम और भलमनसाहत प्रतिदान अथवा विनिमय जैसी बाह्य शर्तों पर निर्भर नहीं होता है। प्रेमस्वरूप होने के कारण वह स्वभाव से ही भला होता है। सूर्य अन्धकार नहीं फैला सकता और प्रकाशित वस्तुओं से कोई प्रतिदान नहीं चाहता। अतः इस अवस्था का प्राकट्य अनाहत अर्थात् अकारण और अक्षुब्ध कहा गया है। सभी भौतिक वस्तुओं की अभिव्यक्ति के लिए कोई प्रेरक, उद्दीपक होता है जो वस्तु को व्यक्त करता है। लेकिन इस व्यक्ति से प्रेम, उदारता और मैत्री अकारण निरन्तर प्रवाहित होते रहते हैं। वह प्रेम और दया का घनीभूत विग्रह होता है और जहाँ कहीं वह होता है, अनायास ही उनको वितरित करता है। उसका व्यक्तित्व आकर्षक और मोहक होता है।

इस हृदय पद्म के प्रस्फुटन से व्यक्ति सभी के प्रति सर्वत्र, भगवत्प्रेम, मानवप्रेम तथा आत्मप्रेम, तीनों एक साथ अभिव्यक्त करने लगता है।

विशुद्ध अर्थात् अत्यन्त पवित्र। इससे योगी के व्यक्तित्व में विशुद्ध प्रेम, विशुद्ध दयालुता और विशुद्ध सत्य अभिव्यक्त होने लगते हैं वह उच्चतम कोटि का कलाकार बन जाता है। उससे सौन्दर्य और अच्छाई उद्भुत होने लगते हैं। संक्षेप में, वह अपने आसपास के संसार का आनन्द और सौन्दर्य बन जाता है।

आज्ञा का अर्थ है, सर्वज्ञ। इस अवस्था में योगी पूर्ण ज्ञानी हो जाता है। इस जगत् अथवा अन्यत्र का, भूत, वर्तमान एवं भविष्य का, सारा ज्ञान उसे प्राप्त होता है। उसके ज्ञान की कोई सीमा नहीं होती। वह असीम हो जाता है। ज्ञान ही तृप्ति है, ज्ञान ही मुक्ति है, ज्ञान ही आनन्द है। अत: योगी पूर्ण तृप्ति, मुक्ति और आनन्द का इस अवस्था में अनुभव करता है। लेकिन अभी भी अतिक्रमण के लिए थोड़ी सी अपूर्णता बची रहती है। एक काँच की अलमारी में बन्द वस्तुओं की जानकारी की तरह योगी सब कुछ जानता है। तुम सब कुछ देख सकते हो पर छू नहीं सकते। चेतना के इस स्तर पर तुम सब कुछ जानते हो, लेकिन तुम अभी भी 'वह हो नहीं।'

सहस्रार नामक अन्तिम अवस्था में आत्मा और अनात्मा का जरा-सा अन्तर भी नष्ट हो जाता है। जल की क्षुद्र बूँद सागर में विलीन होकर उसके साथ अभिन्न और एकाकार हो जाती है। यह अवस्था निर्विकल्प समाधि कहलाती है, जिसका वाणी वर्णन नहीं कर सकती। यह अनुभूति कभी उच्छिष्ट नहीं होती। इस अवस्था का वर्णन श्रीरामकृष्ण ने अत्यन्त सुन्दर और कवित्वमय रूपक द्वारा किया है :

"नमक का एक छोटा सा पुतला एक बार सागर की गहराई नापना चाहता था। वह सागर के किनारे गया, उसमें पैर रखा और सागर के जल में घुलने के कारण उसके साथ अभिन्न और एकाकार हो गया। कुछ बता सकने के लिए वह पुन: नहीं लौट सका।"

तुम्हारा क्षुद्र, मरणशील, सीमित व्यक्तित्व विस्तारित होकर असीम

हो जाता है, पूर्णता को अभिव्यक्त करता है और अनन्त के साथ एकाकार हो जाता है। तुम देश, काल और कार्य-कारण के परे चले जाते हो। तुम अपने दिव्य स्वभाव, पुरातन महिमा और परमानन्द को प्रकट करते हो। कुण्डलिनी कें पूर्ण जागरण का यही अर्थ है। इस अवस्था में तुम्हें जिस अवर्णनीय पूर्ण सच्चिदानन्द की चरम अनुभूति होती है वह मूलतः तुम्हारे स्वरूप में ही विद्यमान है। वह धीरे-धीरे विभिन्न अवस्थाओं से अभिव्यक्त होते हुए अन्त में सहस्रार में पूर्ण रूप से प्रतिफलित होता है।

साधक को निर्भय, निर्द्वन्द्व और निःसंकोच हो प्रसन्नतापूर्वक इस ध्यान का प्रतिदिन कम से कम दो बार अभ्यास करना चाहिए। अन्य कार्यों के समय भी उसे आध्यात्मिक विचारों का एक प्रबल अन्तर्प्रवाह बनाये रखना चाहिए। इस प्रकार दो वर्षों के अभ्यास से व्यक्ति के समग्र व्यक्तित्व में अद्भुत परिवर्तन हो जाता है। इसके बाद धीरे-धीरे वह ऊपर के तीन पद्मों में से किसी एक को अपनी रूचि के अनुसार चुन सकता है। वह अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा के माध्यम से अपने को अधिकांशतः अभिव्यक्त कर सकता है। वह ऐसी प्रज्ञा अर्जित कर सकता है कि अपनी इच्छानुसार इन तीनों में से किसी भी चक्र का उद्घाटन कर अपने आचरण या अभिव्यक्ति में ज्ञान, सौन्दर्य अथवा प्रेम को विशेष रूप से प्रकट कर सकता है। कभी योगी अपने किन्हीं कार्यों में ज्ञानशक्ति को अभिव्यक्त करना चाहे तो यदि वह अपनी चेतना को आज्ञा चक्र के स्तर पर टिकाये रखे तो उसके सभी कार्यों में ज्ञानशक्ति का प्राकट्य दिखाई देगा। वह सारे जगत् को अपनी अद्भुत बुद्धिमत्ता के प्रभाव से अचम्भित और नियंत्रित करेगा। विशुद्ध चक्र का नियंत्रण करने पर उसके क्रियाकलाप उत्कृष्ट कलात्मक सौन्दर्य के सर्जक होंगे। वह जो कुछ करेगा, उसमें सर्वोत्कृष्ट कला की अभिव्यक्ति होगी। अनाहत चक्र के स्तर पर चेतना को स्थापित करने पर वह अपने चारों ओर विशुद्ध प्रेम के आकर्षण का विस्तार करेगा।

प्रारम्भ में तीन निम्न केन्द्रों पर अधिक समय तक ध्यान मत करो, बल्कि बिना रुके धीरे से होकर गुजर जाओ। दो वर्ष की साधना के बाद

साधन-प्रक्रिया के प्रत्येक सोपान को करना आवश्यक नहीं होता और ऊपरी तीन केन्द्रों में से किसी एक में ध्यान स्थिर करके धीरे-धीरे सहस्रार तक जाया जा सकता है। लेकिन प्रारम्भिक साधक को सारी प्रक्रिया का आरम्भ से अन्त तक प्रतिदिन दो बार नियमित रूप से कम से कम दो वर्ष पर्यन्त अभ्यास करना चाहिए। और याद रखो, कुण्डलिनी जागरण खतरनाक नहीं है। वस्तुत: उसके नहीं जागने तक मानव पशु-पक्षी के समान ही है। पशु भी खाते, पीते, सोते और प्रजनन करते हैं। यदि ये ही जीवन के प्रतीक और लक्षण हों तो मानव और पशु में अन्तर ही क्या है? इस अव्यक्त शक्ति के जागरण की मात्रा ही मानव और पशु के बीच अन्तर प्रदर्शित करती है। जिस मात्रा और अनुपात में मानव की कुण्डलिनी जाग्रत हुई हो, उसी मात्रा में वह अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है। इस अन्तर्निहित क्षमता का जितना अधिक विकास किया जाएगा उतना ही मानव दूसरों से अधिक बुद्धिमान, पवित्र और बलवान होगा। अत: एक क्षण के लिए भी अपने मन में यह भ्रान्ति पोषित न करना कि कुण्डलिनी अथवा अन्तर्निहित आध्यात्मिक शक्तियों का जागरण खतरनाक है।

आध्यात्मिक विकास की उच्चतर अवस्थाओं में होने वाली सभी अनुभूतियाँ तुम्हारे भीतर निहित हैं। इन अवस्थाओं की उपलब्धि अभ्यास, सतत अभ्यास द्वारा होती है। सफलता का रहस्य केवल अभ्यास है। इन सोपानों और अवस्थाओं की अनुभूति न होने तक इनके सत्य को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। मार्ग में प्रचुर सौन्दर्य और अबाध आनन्द है, अत: बिना संकोच के साधना आरम्भ करो। यदि हम उच्चतम अवस्था की प्राप्ति न कर सकें तो यह हमारा दुर्भाग्य होगा क्योंकि इस पूर्ण सिद्धावस्था की उपलब्धि केवल मनुष्य योनि में ही सम्भव है।

उपर्युक्त किसी भी विषय को रहस्यमय मत बनाओ। इस दर्शन को धुन्धला मत करो। यदि मन में कुछ संशय रहे तो भी झिझको मत और साधना जारी रखो। साधना करते करते सब संशय दूर हो जाएँगे। साधना ही एकमात्र उपाय है जो अन्ततोगत्वा सत्य को प्रमाणित करेगी।

सब के प्रति सद्भाव :

भारतीय जीवन दर्शन का आदर्श सदा 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' रहा है। तदनुसार मानव जीवन की प्रत्येक क्रिया की सफलता का मूल्यांकन इस उच्चतम व्यावहारिक मापदण्ड से किया जाता था कि वह केवल कर्ता का ही नहीं अपितु सभी का कितना कल्याण साधित करती है। वर्तमान काल में हम नैतिकता के जिस व्यावहारिक मापदण्ड की चर्चा कर रहे हैं उसका उत्स सुदूर अतीत में है। उस समय यह दृष्टिकोण अधिक व्यापक था और सभी प्राणी उसके अन्तर्गत आते थे। पुरातन हिन्दू इस मापदण्ड को ऐसी अति तक ले गये थे कि उन्होंने उसका उपयोग भोजन पकाने में भी किया। यदि भोजन केवल एक व्यक्ति या परिवार के लिए पकाया गया तो उसे अपवित्र माना जाता था। अन्न का एक अंश उन पाँच महान लोकों में वितरित करने के लिए (कभी-कभी प्रतीकात्मक रूप में) अलग रखा जाता था जिनसे हमें हमारे जीवनयापन में सहायता मिलती है।

हमारे ये महान उपकारक हैं : उन अदृश्य देवताओं का लोक जिनका मानव के कल्याण में कुछ योगदान माना जाता है; तत्त्वद्रष्टा ऋषियों का लोक जिनसे हमें समस्त पुरातन ज्ञान और विज्ञान धरोहर के रूप में प्राप्त हुआ है; पितरों का लोक जिनके नाम-गोत्र हम धारण करते हैं तथा जिनका सम्मान, मर्यादा और बड़प्पन हमें प्राप्त हुआ है; मानवों का लोक एवं पशु, वनस्पति और खनिजों का लोक।

यदि तुम इस पृथिवी पर एकमात्र मानव होते तो कैसा जीवन-यापन करते? तुम एक गुहावासी अथवा असभ्य वनवासी के समान होते। तात्पर्य यह कि हम पर समग्र विश्व का बहुत बड़ा ऋण है और हमें प्रतिदिन अपनी कृतज्ञता के प्रतीक रूप में सभी के प्रति श्रद्धांजलि और सम्मान प्रदान करना चाहिए। अतः किसी कार्य को करते समय हमें यह सोचना चाहिए कि इस से सभी का कितना कल्याण होगा। यदि कोई पुण्य कर्म, कोई धार्मिक अनुष्ठान अथवा आध्यात्मिक साधना केवल कर्त्ता का ही कल्याण करे तो उसे स्वार्थपर समझना चाहिए और इसीलिए वह आध्यात्मिक नहीं कहला सकती। दूसरी

ओर जिस कार्य से बहुतों का कल्याण साधित हो, चाहे वह स्वरूपत: कैसा भी हो, उसे सदा आध्यात्मिक मानना चाहिए। इस सार्वभौमिक उपयोगिता के मापदण्ड की दृष्टि से ही अपने धार्मिक कृत्यों को भी इस भाव से करना चाहिए कि सभी प्राणियों को उसके फल प्राप्त हों। भारत में सभी धार्मिक-अनुष्ठान अथवा पूजोत्सव के बाद विश्व की सभी दिशाओं में उसके कर्मफलों को प्रसारित करने की भावना से एक विशेष क्रिया की जाती है जिससे सभी प्राणी उस शुभ कर्म से लाभान्वित हो सकें। चिर-प्रचलित ध्यान की प्रक्रिया के विभिन्न सोपानों का अभ्यास करने के बाद भी अन्त में साधना के फलों का समर्पण होना चाहिए। योगी ध्यान-साधना से कोई व्यक्तिगत लाभ नहीं उठाना चाहता। यदि कोई लाभ हो तो उससे सभी की सुख-समृद्धि में वृद्धि हो।

साकार ईश्वर के उपासक अथवा साकार का ध्यान करने वाले साधक अपने ध्यान का फल यह कहते हुए भगवान् को समर्पित करते हैं :

"हे सर्वभूतात्मा! भूत, वर्तमान और भविष्य के समस्त प्राणियों के आधार। अपने ध्यान के फलों को आपको समर्पित करने से मैं उन्हें सभी के प्रति समर्पित करता हूँ। विश्व के सभी प्राणियों को शान्ति, पवित्रता, दयालुता और समृद्धि प्रदान करने की कृपा करें।"

ज्ञानप्रधान, साकार की चिन्ता न करने वाले लेकिन स्वयं को शुभ-विचारों का स्रोत मानने वाले साधक ऐसा ध्यान करते हैं कि उनकी आत्मा से उदात्त विचारों का सतत् प्रवाह समग्र दृश्य और अदृश्य विश्व पर चारों ओर प्रसारित होकर समस्त प्राणियों के हृदय तक पहुँच रहा है। मानसिक रुचि चाहे कैसी भी हो, सभी परिस्थितियों में हमें साधना की सारी फलाकांक्षा को त्याग देना चाहिए। यदि कोई फल हों तो सभी उसमें भागीदार हों।

दूसरों के लिए कार्य करने में हम अपनी अन्तर्निहित आध्यात्मिक पूर्णता को अधिक सक्षम रूप से अभिव्यक्त करते हैं। आध्यात्मिक महानता देने में है। माँगना, चाहे किसी भी वस्तु के लिए हो, हीन बनाता है। आध्यात्मिक पूर्णता का हमारा सागर माँगने के विचार मात्र से ही संकुचित हो बिन्दुमात्र

रह जाता है। मान लो किसी स्वाभिमानी व्यक्ति को दरिद्रता के कारण खाने-पीने के लाले पड़ गये हों, फिर भी मुझे सन्देह है कि वह भोजन के लिए किसी धनी व्यक्ति के सामने हाथ पसारेगा। लेकिन किसी दूसरे व्यक्तो को भूख से मरणासन्न देखकर वह स्वयं को अपमानित अनुभव किये बिना अवश्य उस व्यक्ति के लिए अन्न की भीख माँग सकता है। वस्तुत: देने की अनुभूति उसके व्यक्तित्व में महान् आध्यात्मिक शक्ति और बल का सञ्चार करेगी। मात्र अपने प्रेम और सहानुभूति की शक्ति से वह दूसरों को आवश्यक द्रव्यों की सहायता के लिए आगे आने को प्रेरित करेगा।

इन तथ्यों पर विचार करने पर हमें सहज ही यह विश्वास हो जाएगा कि अपने स्वार्थ के लिए किया गया प्रत्येक कार्य हमारी आध्यात्मिक शक्ति को कम करता है। उससे हम अत्यन्त सूक्ष्म रूप में हीन तथा लज्जित अनुभव करते हैं। लेकिन दूसरे के लिए किया गया प्रत्येक कार्य हममें विश्वबन्धुत्व का भाव तथा आध्यात्मिक शक्ति उद्दीपित करता है। अत: यदि हमारा ध्यान तथा साधना अपने कल्याण के लिए ही की गई हों तो अन्ततोगत्वा हमारा अधिक लाभ नहीं होता। यदि वे दूसरों की सेवा के उद्देश्य से की जाएँ तो हमारी आध्यात्मिकता की एक बूँद कई गुनी होकर सागर सम हो जाती है।

ध्यान के सन्दर्भ में परोपकारी दृष्टिकोण रखना परमावश्यक है। फलाकांक्षा बिल्कुल न रखो। यह न सोचो कि तुमने कुछ महीनों या वर्षों में कितनी प्रगति की है, तुम्हें क्या उपलब्धि हुई है और क्या होना शेष है। यदि हम मन के एक भाग को ध्यान के लाभ-हानि का हिसाब करने में लगाए रखें तो वह केवल एक व्यापार होगा, साधना और आध्यात्मिक विकास का उपाय नहीं। एक साधक को परिणामों की बात सर्वथा भूल जाना चाहिए।

मेरा यह अटूट विश्वास है कि सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक सेवा मानसिक-स्तर पर ही की जा सकती है। एक सर्वविदित कहावत है : "विचार ही वस्तुएँ हैं।" मेरी मान्यता के अनुसार विचार वस्तुओं मात्र से अधिक

शक्तिशाली, स्थायी और यथार्थतः सारवान होते हैं। यदि तुम किसी को एक सिक्का या मोटरकार दो तो सिक्का कुछ ही दिनों में खो जाएगा या व्यय हो जाएगा अथवा मोटरकार जर्जर हो जाएगी। लेकिन यदि तुम अपने सच्चे शुभ विचारों का दान करो तो वह अन्य बातों की अपेक्षा अधिक लाभकारी होगा। हम अपने स्थूल भौतिकवादी अधैर्य के कारण विचारों का महत्त्व नहीं समझ पाते। उच्चतर आध्यात्मिक विकास होने पर हमें यह बात समझ में आती है कि हम स्थूल वस्तुएँ प्रदान करने के बदले आध्यात्मिक विचार-तरंगों का निर्माण कर संसार का अधिक भला करते हैं।

कई बार हमारी भेंट जरूरतमंद लोगों से होती है। चाहे हम कितने ही अमीर क्यों न हों उन सभी लोगों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना हमारे लिए सम्भव नहीं है। इसलिए आध्यात्म-प्रवण व्यक्ति का मन कुछ उद्विग्न हो उठता है जिससे उसकी प्रगति बाधित होती है। दूसरों के कष्टों से उत्पन्न विक्षेप के उपायस्वरूप यह विशेष मानसिक प्रक्रिया करनी चाहिए : प्रत्येक ध्यान के समय सभी प्राणियों के प्रति प्रेम और सद्भाव की एक अत्यन्त प्रबल विचार तरंग प्रवाहित करो।

सर्वप्रथम, तुम देखोगे कि दूसरों के कष्ट से होने वाली तुम्हारी चिन्ता तो कम से कम दूर हो गई है। तुम्हारा मन अधिक शान्त और स्थिर हो जाएगा। द्वितीयतः, वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखने पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि शुभ विचारों के रूप में प्रेषित सहायता सचमुच जरूरतमन्द लोगों तक पहुँचती है। कई लोग आपत्ति करेंगे कि एक भूखे व्यक्ति के प्रति सद्भावना प्रेषित करने से तुम अपनी समस्या भले ही सुलझा सकते हो, तुम्हें शान्ति मिल सकती है, किन्तु इससे क्या भूखे व्यक्ति को रोटी का टुकड़ा मिलता है जिसकी उसे अत्यधिक आवश्यकता है? मैं अपनी पूरी शक्ति के साथ दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि अत्यावश्यक भौतिक सहायता की प्राप्ति के लिए भी विचार तरंगें मात्र भौतिक सहायता से ज्यादा प्रभावशाली हैं। मेरी यह एक दृढ़तम मान्यता है कि एक भूखा व्यक्ति भी भूख से इतना पीड़ित नहीं होता जितना एक ऐसी आध्यात्मिक मनःस्थिति के अभाव से, जो उसे

सभी कष्टों के ऊपर उठा सके। एक आध्यात्मिक सहायक की आन्तरिक शुभकामना से ऐसी मनःस्थिति के विकास में निश्चय ही सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त यह भी पाया गया है कि आध्यात्मिक व्यक्ति के शक्तिशाली विचारों का प्रभाव सम्पन्न व्यक्तियों पर पड़ता है और वे लोगों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रेरित होते हैं। योगियों तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में पहुँचे हुए अन्य लोगों की शुभकामना निर्धन और आर्तजनों की सहायता में सक्षम लोग अव्यक्त रूप से ग्रहण करते हैं।

अवश्य, यह अभ्यास व्यक्तिगत रूप से तो लाभकारी है ही तथा एक दृष्टि से व्यक्तिगत लाभ सबसे महत्त्वपूर्ण है भी। मैं नहीं जानता कि विश्व के भावी इतिहास में कभी ऐसा समय आएगा जब बाह्य दृष्टि से सभी अपूर्णताएँ, दुःख और कष्ट दूर हो जाएँगे। सम्भवतः ये सभी सृष्टि के अन्त तक बने रहेंगे। लेकिन कोई भी व्यक्ति उच्चतर आध्यात्मिक ज्ञान की सहायता से दुःख बोध के परे जा सकता है। दुःख का उपचार सदा व्यक्तिगत ही होगा। यदि हम व्यक्तिगत स्तर पर दुःखबोध से ऊपर उठ सकें तथा दूसरों को भी ऐसा करने में सहायता दे सकें तो हम संसार की गूढ़तम समस्या का समाधान कर लेंगे।

मुझे महान् अमेरिकन, अब्राहम लिंकन के जीवन की एक अत्यन्त सुन्दर घटना स्मरण हो आई है। कहानी यह है कि एक दिन वे कुछ सेनानायकों के साथ घोड़े पर सवार हो कहीं जा रहे थे। उन्होंने सामने सड़क पर एक छोटे से कीड़े को अपनी पीठ के बल पड़े पुनः पैरों के बल सीधे होने के लिए जी-जान से कोशिश करते देखा। घोड़ों की टाप सुनकर नन्हा सा कीड़ा बेचैनी से लगभग पागल ही हो गया। लिंकन ने यह देखा और वे तत्काल रुक गये। वे घोड़े से उतरे, नन्हें कीड़े को हाथों में लिया और उसे पैरों के बल सीधा खड़ा कर सड़क के दूर एक सुरक्षित स्थान पर रख पुनः अपने घोड़े पर चढ़ गये। एक सेनानायक ने पूछा, "ऐसा करने का क्या अर्थ है?" लिंकन ने मुस्कुराते हुए कहा, "अब मुझे *बहुत अच्छा लग रहा है।*"

किसी भी प्रकार की सेवा का यही वास्तविक लाभ व्यक्ति को प्राप्त होता है। उसे *स्वयं बहुत अच्छा लगता है*। बिना प्रत्याशा के हम जो कुछ देते हैं वह हजार गुना होकर हमारे पास वापस आता है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि हमें संसार के प्रति शुभेच्छा का प्रसारण हजार गुना अधिक पाने की आशा से करना चाहिए क्योंकि वह भी केवल माँगना ही होगा। जब व्यक्ति कोई अच्छा कार्य बिना किसी फलाकांक्षा के केवल इसलिए करता है कि वह ऐसा किये बिना रह ही नहीं सकता तो इसका उसके सुख और आध्यात्मिक प्रगति के लिए बहुत अच्छा परिणाम होता है।

मनौवैज्ञानिक दृष्टि से फलाकांक्षा व्यक्ति को अधीर और चिड़चिड़ा बना देती है। हमें साधना को ही उसका फल समझना चाहिए। उसे लक्ष्य प्राप्ति का उपाय समझने के बदले अपने आप में लक्ष्य ही समझो। अवश्य, जो फल की प्राप्ति के लिए साधना करते हैं, वे उन्हें अवश्य पाते हैं। लेकिन कुछ सिद्धियों अथवा अतीन्द्रिय घटनाओं में रुचि उपजते ही उनकी चारित्रिक गरिमा पूरी तरह नष्ट हो जाती है। अंतत: उनकी अवस्था अत्यन्त हीन और शोचनीय हो जाती है।

योगाभ्यासी को योग की साधना से सांसारिक क्षेत्र में शक्ति अथवा निपुणता प्राप्त करने का विचार अपने मन से पूरी तरह निकाल देना चाहिए। साधना के दौरान अतीन्द्रिय दर्शनादि अथवा सिद्धियाँ उसके समक्ष उपस्थित हो सकती हैं लेकिन वहीं रुक जाने से आगे की प्रगति पूरी तरह अवरुद्ध हो जाती है। इन दर्शनों अथवा सिद्धियों को आध्यात्मिक प्रगति के राजमार्ग पर प्रगति-संकेतक समझना चाहिए। रास्ते पर तेजी से बढ़ रहा यात्री मील-संकेतक पत्थरों को देखकर जान जाता है कि वह लक्ष्य की ओर अच्छी तरह बढ़ रहा है। लेकिन यदि मील-संकेतक प्रत्येक पत्थर पर वह रुके, समय गँवाये और अपनी उपलब्धि पर आनन्द से उछले-कूदे तो उसके लिए आगे बढ़ना असम्भव है। अत: रास्ते में मत रुको, दिखावे की चेष्टा मत करो। गर्वित मत होओ और अपनी असामान्य अनुभूतियों की चर्चा मत करो।

मैं तुम्हें स्मरण करा दूँ : अपनी साधना किसी भी प्रकार की और

किसी भी ओर से प्रत्याशा बिना करो। यह भी न सोचो कि उससे तुम्हें क्या लाभ हो रहा है। उसे 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' करते जाओ। *अच्छा लगने के लिए* करते जाओ। तब उसे न करना तुम्हें अखरेगा। साधना को श्वास-प्रश्वास की तरह जीवन का अभिन्न अंग बना लो।

ध्यान की पञ्चम विधि :

ध्यान की विभिन्न सीढ़ियों का अभ्यास करने के बाद अपने ध्यानाभ्यास का अन्त सदा निम्न प्रकार के ध्यान से करो :

भ्रूमध्य में मन को एकाग्र करो। द्विदल श्वेत कमल की कल्पना करो। आकाश तत्त्व के साथ एकत्व स्थापित करो। सोचो कि उस पद्म के वृत्त से ज्योति-किरणें निर्झरित हो रही हैं। ये उज्ज्वल ज्योति-किरणें संसार में सभी ओर प्रसारित हो रही हैं तथा प्रत्येक प्राणी को तुम्हारे आध्यात्मिक विचारों तथा तुम्हारे प्रेम, सद्भाव और सौहार्द्र से उत्प्राणित कर रही हैं। यह संकल्प करो :

"मैं विश्व से साथ एकरूप हूँ। मेरे आध्यात्मिक विचारों के स्पन्दन से विराट् चेतना जागृत हो रही है। मेरे आध्यात्मिक विचार अत्यन्त शक्तिशाली, प्रभावशाली और अचूक हैं। मैं सभी प्राणियों का सर्वाङ्गीण कल्याण और उत्थान चाहता हूँ। सभी सुखीं हों। शान्ति, ज्ञान, सत्य और प्रेम विश्व के प्रत्येक कण में अभिव्यक्त हो। पृथिवी पर सत्य का साम्राज्य स्थापित हो। शान्तिः शान्तिः शान्तिः।"[१]

समाप्ति ध्यान :

अन्तः और बहिर्प्रकृति शान्ति, प्रेम और मैत्री के व्यापक स्पन्दनों से

---

१. मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः संतोषधीः।
मधुनक्तमुतोषसि मधुत्पार्थिवं रजः।
मधुद्योरस्तु नः पिता मधुमान्नो वनस्पतिः।
मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः।।

पूर्ण हो। वायु हमसे परस्पर विश्वास और मैत्री का सन्देश ग्रहण कर संसार के सभी प्राणियों के प्रति प्रवाहित हो। नदियाँ विश्वबन्धुत्व और सहिष्णुता का मधुरतम संगीत गाती हुई सर्वत्र प्रवाहमान हों। आकाश में स्थित सूर्य सेवा और स्वीकृति के प्रकाश से हमें स्नान कराए। प्रात:काल और सन्ध्या, पृथ्वी और आकाश, पर्वत, वन, पशु-पक्षी, सब कोई बन्धुत्व की भावना से पूर्ण और प्रेरित हों। हमारा प्रत्येक श्वास-प्रश्वास सभी प्राणियों के लिए विश्वजनीन दैवी सेवा का सन्देश वहन करे। हम पर, संसार के सभी प्राणियों पर शान्ति विराज करे। ओम् तत् सत्।

□□□

(५)

मंत्र विज्ञान

स्वामी घनानन्द

१. अध्यास :

सभी साधनाओं का उद्देश्य मानव को परमात्मा पर मन को पर्याप्त मात्रा में एकाग्र करना सिखाना है तथा अन्ततः उसे लक्ष्य तक पहुँचाना है। वे मन की ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और भावनात्मक क्षमताओं को शुद्ध और बलवान बनाती हैं और उसे आध्यात्मिक दिशा में और अधिक उत्साह के साथ जूझ पड़ने में सहायक होती हैं। ऐसा होने पर मानव की एकाग्रता तब तक गहन से गहनतर होती जाती है, जब तक वह परमात्मा में अपना अविभाजित मन पूरी तरह नहीं लगा देता।

भगवद् साक्षात्कार के उद्देश्य से की जाने वाली साधनाएँ, साधक की ज्ञानात्मक, क्रियात्मक अथवा भावनात्मक प्रकृति एवं रुचियों में से किसी एक की प्रधानता के अनुसार ज्ञानयोग, भक्तियोग या सम्यक् कर्मयोग – इस तरह तीन प्रकार की हो सकती हैं। सगुण ईश्वर अथवा समष्टि जगत् और व्यष्टि अहंकार के अतीत निर्गुण निराकार विशुद्ध चैतन्य की अनुभूति रूप लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रत्येक योग की अपनी एक साधना पद्धति होती है। इन साधनाओं के विभिन्न सोपानों का उत्तरोत्तर वर्धमान तीव्रता, प्रयास और उत्साह के अनुसार विभिन्न योगों में विभिन्न प्रकार से विभाजन किया गया है। लेकिन सभी योग, मंत्र की उपयोगिता को स्वीकार करते तथा

उसके जप की शिक्षा देते हैं।

उपनिषदों में (१) उत्तम गुरु की जीवन्त वाणी से सत्य का श्रवण (२) उसका मनन तथा (३) उसके साक्षात्कार के उद्देश्य से उसका निदिध्यासन करने की बात कही गई है। ये मोटे तौर पर परमात्मा की प्राप्ति रूप लक्ष्य की दिशा के तीन स्तर हैं। द्वितीय प्रथम से उच्चतर अवस्था है तथा तीसरी दूसरी से ऊँची। लेकिन इन उपनिषदों में भी मंत्र की महिमा गाई गई है। वेदान्त के आचार्य ज्ञानयोग के सभी साधकों के लिए आवश्यक साधन-चतुष्टय का वर्णन करते हैं। वे हैं : (१) नित्यानित्यवस्तुविवेक (२) शमदमादि छः सद्गुणों का विकास (३) इस लोक अथवा परलोक में कर्मफलों की भोगेच्छा का त्याग अथवा इहामुत्रफलभोगविराग और (४) मन और उसकी इच्छाओं के बन्धनों से मुक्त होने की इच्छा (मुमुक्षा)। लेकिन ये सभी आचार्य मंत्र की उपयोगिता स्वीकार करते हैं।

रामानुज, मध्व, आदि अन्य भक्ति-आचार्य साधना के प्रारम्भिक सोपानों का भिन्न प्रकार से विभाजन करते हैं। उनकी लक्ष्य-विषयक धारणा भी भिन्न है, लेकिन वे सभी मंत्र की शक्ति को स्वीकार करते है। मंत्र की महिमा का वर्णन वेदों में ही नहीं बल्कि तंत्र तथा आगम कहलाने वाले सभी परवर्ती शास्त्रों में भी किया गया है। वेद वैदिक मंत्रों का आदेश देते हैं जब कि आगम, आगम मंत्रों को महान् बताते हैं, बस यही भेद है।

भगवन्नाम या कोई शब्दसमूह मंत्र कहलाता है। मंत्र परमात्मा का गूढ़ शब्द-प्रतीक होता है। उसकी परिभाषा इस प्रकार की गई है : जिसके मनन से पाप से मुक्ति, स्वर्गापवर्ग तथा चतुर्वर्ग[१] की प्राप्ति होती है वह मंत्र कहलाता है।

मननात् मंत्र : मनन् क्रिया के कारण यह मंत्र कहलाता है। मंत्र का

---

१ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ (चतुर्वर्ग) कहलाते हैं। धर्म, जीवन का नैतिक और आध्यात्मिक आधार है। उसके आलोक में व्यक्ति को अर्थोपार्जन तथा कामनाओं की पूर्ति करना चाहिए। धर्म के आलोक में जीये गए ऐसे जीवन से 'मोक्ष' की प्राप्ति होती है।

प्रथमांश 'मन' मनन का प्रथमांश है। मंत्र का 'त्र', 'त्राण' का प्रथमांश है। अर्थात् जो मनन के द्वारा पापों से त्राण या मुक्ति दिलाए। चार पुरुषार्थों के 'आ मंत्रण' के कारण भी यह मंत्र कहलाता है। पुरातन काल में भारत में ऋषियों ने इनकी रचना नहीं की थी, अपितु अतीन्द्रिय अवस्था में उनका आविष्कार किया था। इन मंत्रों को किसी भाषा के शब्दों की तरह जोड़-जोड़कर बनाया नहीं गया था। हिन्दू आर्य जाति के आचार्यों ने आध्यात्मिक उत्कर्ष की अवस्था में इनका साक्षात्कार किया था। कालान्तर में हिन्दू आर्यों ने एक मंत्रशास्त्र का विकास किया जो अति प्राचीन काल से प्रारम्भ होकर सदियों तक वर्धित होता गया। मंत्रों ने भारत के आध्यात्मिक चिन्तन और जीवन को बहुत गहराई से प्रभावित किया है। उन्होंने अनेक भारतेतर देशों, विशेषकर पूर्वी देशों तथा पश्चिम के कई लोगों को भी प्रभावित किया।

मंत्रों के प्रकार :

मंत्र में अक्षर ध्वनि-विशेष के क्रम में सजाए गए होते हैं। ये अक्षर इन ध्वनियों के प्रतीक होते हैं। जिस देवता-विशेष का भक्त आह्वान करता है, वह परमात्मा का एक रूप-विशेष होता है। परमात्मा के विभिन्न रूप हो सकते हैं। अतः देवता भी अनेक और मंत्र भी अनेक होते हैं। इनमें से किसी एक देवता-विशेष का मंत्र वह अक्षर अथवा अक्षर-समूह है, जिसकी सहायता से साधना की शक्ति द्वारा उस देवी अथवा देवता को साधक अपनी चेतना में जाग्रत करता है। तात्पर्य यह कि उस मंत्र-विशेष से उस देवता-विशेष का रूप प्रकट होता है।

मंत्र का अर्थ 'जो त्राण या रक्षा करे', भी है। यह मानव की शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक खतरों से रक्षा का सूक्ष्म उपाय है। यह व्यक्ति (या व्यक्तियों) की ही नहीं बल्कि समाज की भी रक्षा कर सकता है। संक्रामक रोगों के खतरों के अवसरों पर अथवा प्राकृतिक विपदाओं की सम्भावना होने पर सारे नगर अथवा गाँव के लोग बैठकर मंत्र के जप द्वारा दैवी सहायता की याचना करते हैं। और तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि

कितनी अधिक बार यह उपाय सफल होता है। भारत में परिवार को एक अधिष्ठाता देवता को समर्पित करने की परम्परा है। उनकी उपासना हेतु एक कमरा अलग रखा जाता है और यह कमरा गृह-देवालय बन जाता है। इसी देवालय में परिवार के छोटे-बड़े सभी सदस्य दैनिक प्रार्थना और ध्यान के लिए तथा कष्टों अथवा खतरों के मौकों पर कृपा और रक्षा की याचना हेतु एकत्रित होते हैं। इसी प्रकार सारे मुहल्ले, ग्राम और नगर का एक अधिष्ठाता देवता होता है जो परमात्मा का ही एक रूप-विशेष होता है। इन सभी देवताओं की विधिवत उपासना होती है लेकिन उनकी आध्यात्मिक शक्ति को व्यक्त करने हेतु उपयुक्त मंत्र के जप बिना पूजा नहीं की जा सकती। विभिन्न देवताओं के भिन्न-भिन्न मंत्र होते हैं।

सृष्टि के क्रम में रूप के पूर्व शब्द की अभिव्यक्ति होती है। शब्द-विशेष से रूप-विशेष की अभिव्यक्ति होती है। अत: प्रत्येक शब्द एक-एक रूप-विशेष का उत्तरदायी है। एक ध्वनि सयंत्र को लो और उसे एक तख्ते पर बिखरे बारीक रेत कणों की हल्की सी परत के निकट बजाओ। तुम देखोगे कि रेत के कण विभिन्न ज्यामितीय आकार धारण कर लेंगे। इसी प्रकार मंत्र भी स्पन्दन हैं और उनमें रचनात्मक एवं संहारात्मक दोनों ही प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। रचनात्मक, लाभप्रद मंत्र भी हैं और संहारक, हानिकारक भी। कुछ स्वास्थ्यवर्धक, एकाग्रता बढ़ाने वाले और नैतिक कल्याणकारक मंत्र हैं। दूसरे देह की हानि, मन को विभ्रमित और नैतिक पतन करते हैं। वेदों में मूलत: पवित्र और शुभ मंत्रों का वर्णन है। वैसे अथर्व वेद में जादू-टोना और भूत-प्रेतादि से सम्बन्धित मंत्र भी पाये जाते हैं।

अत: हमारा प्रयोजन मन और देह को शुद्ध करने वाले उन उदात्त मंत्रों से है जिन महान् आध्यात्मिक मंत्रों ने भूतकाल में ज्ञानालोक और शान्ति प्रदान की थी तथा जो अभी भी प्रदान कर सकते हैं। इन्हें अभिज्ञ गुरु से सीखना चाहिए। हिन्दू-आर्य आचार्यगण मंत्र के जप को उसकी आध्यात्मिक उपयोगिता तथा ध्यान के लिए आवश्यक एकाग्रता प्रदान करने की क्षमता के कारण सदा महत्त्व देते आए हैं।

जैसा कि हमने कहा, प्रत्येक मंत्र का एक अधिष्ठाता देवता होता है। मंत्र उस देवता का शरीर होता है। यह केवल मानव-मन को समझाने का एक विचार या तरीका मात्र नहीं है; एक अर्थ-विशेष को प्रकट करने वाले शब्दों का समूह मात्र नहीं है; अथवा बीजमंत्र की तरह (सर जॉन वुड्रोफ) अर्थहीन शब्द नहीं है। मंत्र देवता का चेतन श- -ग ध्वनि-शरीर होता है। वस्तुत: मंत्रों का उच्चारण और स्वर विन्यास उनके शब्दों तथा लय के अनुसार किया जाता है। यही कारण है कि अनुवाद किए जाने पर वे मंत्र नहीं रह जाते, क्योंकि इससे बुद्धि की समझ में तो उनका अर्थ आ जाएगा, पर उनकी शक्ति व्यक्त नहीं होगी। मंत्र तेजस अर्थात् शक्ति का भण्डार होता है। वह परम सत्य ब्रह्म का शब्द रूप होता है। वह अक्षर है। वह महापुरुषों के उपदेश अथवा परामर्शयुक्त शिक्षा अथवा कथन की तरह नहीं है। यह प्रार्थना करने वाले व्यक्ति की प्रार्थना के शब्द नहीं हैं। मंत्र अतिमानवीय शक्ति को जाग्रत् करता है और अंतत: मानव को परमात्मा तक पहुँचाता है।

ऐसी मान्यता है कि परवर्ती उपनिषदों की तरह ये मंत्र ऋषियों के समक्ष एक ऐसी अतीन्द्रिय अवस्था में प्रकट हुए थे जिसमें अहंकार बना रहता है। इस अवस्था में उन्होंने मंत्रों को या तो सुना अथवा ज्योतिर्मय अक्षरों में देखा। चाहे जो भी हो, ये उच्च आध्यात्मिक सत्यों की अभिव्यक्ति करते हैं तथा अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं।

आन्तरिक मंत्र :

उच्चारित मंत्र को पवित्र अक्षरों से निर्मित होने के कारण श्रवणगम्य अभिव्यक्ति प्रदान की जा सकती है। यह मंत्र का स्थूल रूप हुआ। लेकिन उसका एक सूक्ष्म रूप भी होता है जिसे केवल आन्तरिक या मानसिक कर्ण से ही सुना जा सकता है। शब्द को तभी सुना जा सकता है जब तक वह स्पन्दनों की एक सीमा विशेष के अन्दर हो। वह एक स्वर-विशेष के ऊपर और एक स्वर-विशेष के नीचे सुना नहीं जा सकता। लेकिन उन स्थितियों में भी वह ध्वनि विद्यमान रहती है तथा कुछ प्राणी उसे सुन सकते हैं। मंत्रों

के साथ भी यही बात है। उनका भी एक सूक्ष्म रूप होता है जो साधना और उचित प्रशिक्षण के द्वारा ही सुना जा सकता है। मानव सामान्यत: केवल स्थूल शब्द ही सुनते हैं। मंत्रों की शिक्षा सर्वप्रथम उन लोगों ने दी थी जिन्होंने उनके सूक्ष्म रूप को सुना था तथा जिनके समक्ष उनके अर्थ प्रकट हुए थे। वे इन सूक्ष्म रूपों में अनादिकाल से विद्यमान थे। लेकिन 'देवलोक का संगीत' की तरह इस सूक्ष्म रूप को कोई भी – अति तीक्ष्ण श्रवण शक्ति वाले भी – नहीं सुन सकते हैं। इन्हें केवल सूक्ष्म बुद्धि वाले अर्थात् जो मानसिक कर्णयुक्त हैं, वे ही सुन सकते हैं। ऋषियों ने अनेक वर्षों की तीव्र साधना और संघर्ष के बाद इन मंत्रों को 'सुना' अथवा 'देखा', अत: वे मंत्र द्रष्टा कहलाए। उन्होंने इन मंत्रों को उच्च आध्यात्मिक अवस्था में, अति चेतनावस्था में देखा था। लेकिन सामान्य चेतनावस्था में लौटने पर उन्हें वे मंत्र याद रहे और उन्होंने इनको अपने शिष्यों को सिखाया और उनका जप करने को कहा ताकि वे भी उस उच्च अवस्था को प्राप्त कर सकें जिसमें मंत्रों को सुना या देखा जाता है। मंत्र के जप की शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्ति की ईश्वर की प्राप्ति हेतु की गयी यात्रा, देश के आन्तरिक प्रदेश में रहने वाले व्यक्ति द्वारा सागर की खोज के समान है। उसे एक सीपी दी जाती है और एक विशेष दिशा में अग्रसर होने को कहा जाता है। वह चलते हुए उस स्थान तक पहुँचता है जहाँ की रेत पर वैसे ही सीप बिखरे पड़े होते हैं। तदनन्तर वह अथाह जलराशि तक पहुँचता है और अपनी खोज के लक्ष्य को पहचान जाता है।

ध्यान और मनन :

आध्यात्मिक सत्यों को किसी पुस्तक के बदले किसी जीवन्त व्यक्ति से सीखना श्रेष्ठतर है। उसके बाद साधक को उन पर तब तक मनन करना पड़ता है जब तक वह निदिध्यासन में समर्थ न हो जाए। निदिध्यासन या ध्यान द्वारा ही वह सत्य का साक्षात्कार और अनुभव करने में समर्थ होता है। गुरु की जीवन्त वाणी के प्राप्त होने तक साधक पुस्तकों से आध्यात्मिक

सत्यों को सीख सकता है। वह मनन भी कर सकता है। लेकिन ध्यान में मनन, प्रयत्नपूर्वक नित्य-अनित्य विवेक अथवा बौद्धिक धारणा (जैसे पहलू) नहीं होते। ये सारी बातें विचार के अन्तर्गत आती हैं। मनन और विवेक आवश्यक और अच्छे हैं क्योंकि वे मन को ध्यान के लिए तैयार करते हैं। लेकिन ये ध्यान से भिन्न हैं।

ईसाई धर्ममत और साधना में प्रतिपादित मनन भी ध्यान की तैयारी मात्र ही है। वह किसी भी माने में ध्यान के समकक्ष नहीं है। मनन की तुलना एक मधुमक्खी के एक पुष्प के रूप-रंग से आकृष्ट होकर उसकी पंखुड़ियों पर भिनभिनाने के साथ की जा सकती है। वह मधुपान की तैयारी कर रही है पर उसने मधुपान प्रारम्भ नहीं किया है। वास्तविक मधुपान ध्यान के समकक्ष है। जब एक निष्ठावान ईसाई ईसा के जन्म, तपस्या, साक्षात्कार, प्रचार, क्रूसविद्ध और पुनर्जीवित होने का चिन्तन करता है तब वह उनका मनन कर रहा होता है। लेकिन वह ईसा का ध्यान कर रहा है, यह तभी कहा जाएगा जब उसका हृदय उस दिव्य हृदय के साथ जुड़ा हो, जब वह प्रभु के हृदय के द्वारा बँध गया हो अथवा अपने हृदय में प्रभु को प्रविष्ट कर उसे कुछ समय के लिए वहीं बनाए रखने में समर्थ हो।

चाहे हमारी साधना मुख्यत: निष्काम समर्पित कर्मयोग की हो या भक्तियोग की, ज्ञान और विवेक की हो या राजयोग की, ध्यान सभी पथों में आध्यात्मिक जीवन में सफलता का महत्वपूर्ण उपाय है। ध्यान अत्यन्त कठिन है। अत: पुरातन विश्वसनीय आचार्यों ने अपने शिष्यों को चित्तशुद्धि और मन की एकाग्रता के लिए मंत्र प्रदान किये जिससे वे ध्यान में समर्थ हो सकें।

मंत्रों को सामान्यत: वैदिक और आगमीय इन दो प्रकारों में विभक्त किया जाता है। लेकिन वे चाहे किसी भी प्रकार के हों 'ओम्' उन सभी में सर्वश्रेष्ठ है। 'ओम्' अक्षर को समस्त वेदों का सार समझा जाता है। यह प्रतीक मात्र वेदानुयायी हिन्दुओं के लिए ही पवित्र नहीं है बल्कि जैन, बौद्ध एवं पारसियों के लिये भी समान रूप से पवित्र है। यह पुरातनी हिन्दू आर्यों

की ध्यान-विज्ञान के क्षेत्र में महानतम खोज थी। इसका उपदेश सर्वप्रथम पुरातन वैदिक काल में हुआ था। लेकिन यह संस्कृत अथवा अन्य किसी भाषा का शब्द नहीं है। यह एक पवित्र ध्वनि है। यह स्पष्ट रूप से एक प्रतीक है। यह अनन्त का सर्वोच्च सम्भव प्रतीक है। यह उस उपनिषदोक्त ब्रह्म का, अनन्त परमात्मा का निकटतम संकेत है जो इन हजारों वर्षों से हिन्दुओं का चरम लक्ष्य रहा है तथा जिसका वे स्वप्न देखते रहे हैं।

मंत्र का जप :

जप का अर्थ है प्रारम्भिक निर्देशों का पालन करने के बाद भक्ति एवं श्रद्धापूर्वक मंत्र की आवृत्ति करना। प्रारम्भिक निर्देश का अर्थ है जप के उद्देश्य से देह को शुद्ध करके स्वच्छ वस्त्र धारण करना। उष्ण कटिबन्ध में निवास के कारण हिन्दू लोग प्रतिदिन कम से कम एक बार स्नान करते हैं तथा जप के लिए अलग रखे गये निर्दिष्ट स्वच्छ धुले वस्त्र धारण करते हैं। यदि किसी दिन दैनन्दिन स्नान सम्भव न हो तो शरीर को भलीभाँति साफ़ कर लेना चाहिए। जप के लिए यात्रा अथवा अन्य कार्यों के दौरान पहने गये वस्त्र नहीं बल्कि साधना हेतु अलग रखे गये वस्त्र पहनना चाहिए। ध्यान कक्ष में एक छोटा सा आसन रखना चाहिए और उसका उपयोग साधना के लिए ही करना चाहिए। अगरबत्ती, धूप तथा पुष्पादि से सजाकर उस कमरे में आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण करना चाहिए। साधक अपना सिर, गर्दन तथा सीना एक सीध में रखकर सुखपूर्वक बैठे तथा मन को शान्त करे। मंत्र की आवृत्ति करने के पूर्व वह गुरु को प्रणाम करे। वह कुछ मिनटों के लिए प्राणायाम भी कर सकता है।

वेदान्त का अनुयायी साधक जिस किसी साधना पद्धति का अवलम्बन करे वह एक गुरु के पास जाकर उनसे मंत्र प्राप्त करता है। वह ज्ञानलाभ रूपी लक्ष्य की प्राप्ति तक प्रतिदिन उसका अभ्यास करता है।

गुरु से मंत्र दीक्षा के समय प्राप्त किया जाता है। गुरु या तो सिद्धपुरुष होना चाहिए अथवा कम से कम एक उच्चकोटि का साधक होना चाहिए।

साधक ऐसे व्यक्ति को यदि अन्तर्दृष्टि से शीघ्र न पहचाने तो भी साहचर्य द्वारा पहचान सकता है। ऐसा गुरु शिष्य को स्वीकार करता है और दीक्षा के समय उच्च आध्यात्मिक भाव में आरूढ़ होता है। तब उसके भीतर के परमात्मा सक्रिय होकर शिष्य को मंत्र प्रदान करते हैं। यह परमात्म-तत्त्व ही वास्तविक गुरु है, उसका मानवीय रूप नहीं तथा शिष्य गुरु को परमात्मा के साथ एक रूप समझता है। उसी प्रकार गुरु अपने शिष्य को आध्यात्मिक प्रगति की सोपान-पंक्ति पर आरोहण करने वाले तरुण, निष्ठावान जीव के रूप में देखता है।

यह स्वाभाविक है कि साधक मंत्र-जप करने के पूर्व अपने गुरु का कुछ समय तक चिन्तन करे। ध्यान-विज्ञान में यह निर्देश दिया गया है कि सर्वप्रथम मस्तक में कुछ समय के लिए गुरु का ध्यान करना चाहिए। उसके बाद गुरु को हृदय में विराजित इष्ट में विलीन कर दे और मंत्र का जप करे। जप निःशब्द होना चाहिए, होंठ हिलें या न हिलें। जप के समय प्रायः साधक अपने इष्ट की स्पष्ट कल्पना करता है। लेकिन उसे हजार अथवा इसी प्रकार की किसी एक निर्दिष्ट संख्या तक जप किये जाना चाहिए क्योंकि ऐसा जप मन को गहन से गहनतर ध्यान के लिए तैयार करता है। जप पूरा होने पर साधक को ध्यान करना चाहिए जो सम्भवतः जप के समय ही प्रारम्भ हो गया हो।

मंत्र का जप करने से कालान्तर में साधक को महान साधनाशक्ति प्राप्त होती है जिसे तीव्र ध्यान तथा श्रद्धा की सहायता से मंत्रशक्ति के साथ जोड़ देना चाहिए। ऐसा संयोग साधना में फलप्रसू होता है। मूलतः दोनों शक्तियाँ एक होते हुए भी मंत्रशक्ति अधिक बलवती होती है।

ध्यान और आध्यात्मिक जीवन की सफलता में जप, सत्यवादिता और व्यक्तिगत पवित्रता या ब्रह्मचर्य अन्य बातों की अपेक्षा सर्वाधिक सहायक होते हैं। जप सत्यवादिता में सहायक होता है क्योंकि वह मन को संयत करता है और भटकने नहीं देता। जप व्यक्तिगत पवित्रता के लिए भी आवश्यक है क्योंकि वह अचेतन और चेतन दोनों मनों को शुद्ध करता है। मन के

सभी स्तरों की पवित्रता व्यक्तिगत पवित्रता के लिए अनिवार्य है। मंत्र मन की गहराई में पैठकर अवचेतन के स्तर पर कार्य कर सकता है। यदि साधक सोने के पूर्व उसका सौ-दो-सौ बार जप करे तो वह पायेगा कि वह सोने के बाद जप करता हुआ उठेगा और सोते समय वह अवचेतन रूप से स्वयं के अनजाने जप करता रहा होगा।

यथासमय साधक को यह अनुभव होगा कि वह, उसके गुरु और इष्ट तीनों स्वरूपत: एक ही हैं।

गायत्री और प्रणव (ओम्) :

पुरातन काल में हिन्दू आर्य लोग सूर्य के प्रकाश में, मानव के नेत्रों की ज्योतिं में तथा चेतना के केन्द्र माने जाने वाले हृदय में, अभिव्यक्त ब्रह्म की उपासना किया करते थे। गायत्री उपासना सूर्य के प्रकाश में अभिव्यक्त ब्रह्म की उपासना है। हिन्दू आर्य लोगों ने सूर्य को प्रकाश और जीवन के चरम उत्स के रूप में स्वीकार किया था क्योंकि सूर्य के बिना पृथिवी पर समस्त जीवन का लोप हो जाएगा और सारा संसार अन्धकार में डूब जाएगा। गायत्री मंत्र की दीक्षा प्राप्त हिन्दू युवक को सूर्योदय, सूर्यास्त और मध्याह्न के समय सूर्य के उज्ज्वल प्रकाश पर मन को एकाग्र करने का निर्देश दिया जाता है। उसके बाद उसे कहा जाता है कि वह सूर्य में प्रकाश के उत्स अथवा जीवन का चिन्तन करे। इससे वह स्वयं के भीतर विद्यमान प्राण अथवा प्रज्ञालोक के उत्स तक पहुँचता है जिसके बिना वह सूर्य के आलोक अथवा उस प्रकाश की प्राण सत्ता का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। अन्तिम अवस्था में उसे अपने भीतर के प्रकाश (के जीवन) और सूर्य में विद्यमान प्रकाश (के जीवन) के एकत्व पर ध्यान करने को कहा जाता है। अर्थात् अपने भीतर के विशुद्ध आत्म चैतन्य और सूर्यालोक की पृष्ठभूमि में विद्यमान विशुद्ध चैतन्य या स्वयं में विद्यमान एकमात्र सत्ता और समग्र ब्रह्माण्ड की एकमात्र सत्ता के एकत्व पर ध्यान करने को कहा जाता है। अन्ततः वह इसका साक्षात्कार करता है। वस्तुतः ज्यों ही वह अपनी आत्मा का साक्षात्कार करता

है त्योंही ब्रह्म या परमात्मा के साथ उसके एकत्व की अनुभूति अपने आप हो जाती है। यह ठीक उसी तरह है जैसे पृथिवी के किसी भी स्थान में जल की एक बूँद अथवा राशि का विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि वह हाइड्रोजन और आक्सीजन से निर्मित है। इस ज्ञान से सभी जलों की बनावट का ज्ञान अपने आप हो जाता है।

श्रीरामकृष्ण का कथन है कि वेदों का लय गायत्री में और गायत्री का लय प्रणव (ओम्) में होता है। और प्रणव का समाधि या अतिचेतनावस्था में अपने आप विलय हो जाता है।

गायत्री एक अत्यन्त उदात्त वैदिक प्रार्थना है। इसका अर्थ है : हम तीनों लोकों के स्रष्टा परमात्मा के ज्योतिर्मय स्वरूप का ध्यान करें। वे हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में लगाएँ।[२]

गायत्री मंत्र की आवृत्ति के पूर्व भू: भुव: स्व: इन तीन व्याहृतियों का सदा उच्चारण किया जाना चाहिए। और इनके पूर्व ओम् का उच्चारण होना चाहिए। भू: का अर्थ है पृथिवी। भुव: का अर्थ है अन्तरिक्ष लोक और स्व: का अर्थ है स्वर्गलोक। इनकी रचना ईश्वर कहलाने वाली दैवी शक्ती अथवा सगुण ब्रह्म ने की है। इन ईश्वर निर्मित तीन लोकों के चिन्तन से जगत् स्रष्टा ईश्वर का स्मरण हो आता है।

कहते हैं कि गायत्री का लय प्रणव (ओम्) में होता है। ओम् शब्द क्या है? यह तीन स्वरांशों से निर्मित है – 'अ', 'उ' और 'म' जिनका एक साथ उच्चारण होता है। ये तीन अक्षर प्रत्येक स्त्री, पुरुष और बालक को ज्ञात चेतना की तीन अवस्थाओं अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति क्रमश: इन तीन अवस्थाओं के माध्यम से होता है। इस तरह तीन लोको के चिंतन से साधक को चेतना की तीन अवस्थाओं का चिन्तन करने को कहा जाता है। बाह्य वस्तुओं के चिन्तन से चेतना की आन्तरिक अवस्थाओं के चिन्तन का यह परिवर्तन एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। क्योंकि यह मानव को अन्तर्निहित

---

२ सरजॉन वुड्रोफ ने अपनी पुस्तक Garland of letters के अध्याय ३० में गायत्री मंत्र की तर्क के अभ्यास के रूप में विवेचना की है।

वास्तविक सत्ता के अनुसन्धान में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। इस विषय की सैद्धान्तिक चर्चा करते समय हम इसका और विवेचन करेंगे।

ओम्, अ, उ, और म, इन तीन अक्षरों से मिलकर बना है और प्रत्येक चेतना की एक अवस्था-विशेष का प्रतीक है। लेकिन अकेला एकाक्षर ओम् चतुर्थ या तुरीय या ब्रह्म का प्रतीक है। अत: पूर्ण ओम् ब्रह्म का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। जाग्रत अवस्था का मानव, स्वप्नावस्था का मानव तथा सुषुप्तावस्था का मानव, ये तीनों एक ही आत्मा की तीन अभिव्यक्तियाँ है। इस प्रकार आन्तरिक स्तर पर चेतना की तीनों अवस्थाओं के बीच एक एकत्व का बोध विद्यमान रहता है। यह एकत्व-बोध आत्मा नहीं है लेकिन वह उसकी मानव द्वारा तुरीय नामक विशुद्ध चैतन्य के रूप में अनुभूति की सम्भावना का संकेत प्रदान करता है। वस्तुत: तुरीय कोई अवस्था नहीं है क्योंकि वह अनन्त है लेकिन उसे बोलचाल में चतुर्थ या अतीन्द्रिय अवस्था कहा जाता है।[३] यही बाह्य जगत् के पीछे विद्यमान चैतन्य सत्ता है। यही ब्रह्म है जो उपनिषदों की एकमात्र विषय वस्तु है तथा वेदान्त के अनुसार जीवन का एकमात्र लक्ष्य है।

ओम् ध्वनि में शब्दातीत ओम् विद्यमान है। इसी प्रकार तुरीय या चतुर्थ अन्य तीन अवस्थाओं में अन्तर्निहित है। ओम् सहित अन्य सभी अभिव्यक्त शब्द ध्वनियाँ शब्दातीत तथा श्रवणातीत, अव्यक्त, जगदातीत ओम् की अभिव्यक्त रूप ही हैं। इसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की तीन अवस्थाएँ एक आत्मा की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं।

तात्पर्य यह कि ओम् का अर्थ ब्रह्म है। गायत्री के ध्यान से इसी ओम् तक पहुँचा जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि गायत्री का लय प्रणव या ओम् में होता है।

छात्र प्राय: पूछते हैं कि क्या उन्हें ओम् के तीन अक्षरों, अ, उ और म के लिखित रूप पर ध्यान करना चाहिए। कुछ लोग पूछते हैं कि उन्हें संस्कृत, अंग्रेजी या अन्य किसी भाषा में लिखित होना चाहिए? ऐसा ध्यान ओम् का

---

३ माण्डूक्य उपनिषद् और कारिका।

ध्यान नहीं होगा। ओम् का ध्यान याने ओम् के अर्थ का ध्यान, ओम् की ध्वनि का, उसके तीन अक्षरों का जिससे वह बना है अथवा किसी भी भाषा में लिखित अक्षरों का ध्यान नहीं। ओम् के अर्थ का ध्यान करना चाहिए।

एकाग्रता की सहायता के लिए ओम् की कई बार आवृत्ति करना चाहिए। वस्तुत: यह जप मन ही मन दिन-रात यथा साध्य निरन्तर किया जा सकता है।[४] ऐसा करने से आध्यात्मिक जागरण होता है, मन में एक बल आता है और मन ओम् के अर्थ पर तीव्रता से एकाग्र हो जाता है।

इस तरह ओम् ब्रह्म का नाम है। नाम-रूपातीत सत्ता का यह निकटतम शब्द प्रतीक है। इसका गहनतम अर्थ अन्य किसी शब्द द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। अत: इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इसकी महिमा का वेदों में सर्वत्र वर्णन किया गया है।[५]

ओम् तथा उसके अर्थ की उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाएगा कि ओम् का जप तथा उसके अर्थ का चिन्तन एक उच्चतर कोटि की साधना है। वस्तुत: बहुत कम लोग इस साधना में सफल होते हैं। इसके पूर्व अन्य आसान साधनाओं द्वारा मन को तैयार करना चाहिए। यही नहीं, त्रैवर्णिक आर्यों द्वारा गायत्री का जप किये जाने पर भी ओम् का जप भारत में अधिकांशत: ब्राह्मण ही करते थे। उनकी संकीर्णता के कारण तथा अन्य जातियों की आध्यात्मिक प्रवृत्ति के धीरे-धीरे ह्रास होने के कारण कालान्तर में अन्य साधना पद्धतियों की आवश्यकता अनुभव की गयी थी। उस समय आगम मंत्र अधिक महत्त्वपूर्ण हुए और भारत में उनका सर्वत्र प्रचार हुआ।

२. सिद्धान्त :

न्याय और वैशेषिक, सांख्य और योग, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदान्त), ये छः हिन्दू दर्शन प्रणालियाँ हैं। इनमें से पूर्व मीमांसा वेदों के कर्मकाण्ड पर आधारित होने के कारण कर्मकाण्ड दर्शन कही जा सकती है। इसके उपदेश उनके प्रणेता जैमिनी के सूत्रों में निहित हैं।

---

४ अन्य मंत्रों के विषय में भी यही बात है। ५ जैसे तैत्तिरीयोपनिषद् १,८ में।

जैमिनी के मतानुसार वेदों के आध्यात्मिक सिद्धान्त और विधान ही शाश्वत नहीं हैं, उनके शब्द भी शाश्वत हैं। वेदों के शब्द अनादि हैं अर्थात् शब्द और उसके प्रतिपाद्य विषय, ध्वनि और अर्थ के बीच सम्बन्ध अनादि है। शब्द का प्रत्यक्ष ज्ञान अवश्य क्षणिक होता है लेकिन शब्द सदा रहता है। उसका श्रोता के साथ सम्बन्ध न होने के कारण उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो पाता। शब्द सदा विद्यमान रहता है लेकिन मानव द्वारा उच्चारित होने पर ही वह व्यक्त होता है। जैमिनी कहते हैं : शब्द अनादि है क्योंकि वह अर्थवाचक है। नाम के साथ नामी सदा रहता है।[६]

भारतीय दर्शन में मन को सूक्ष्म पदार्थ माना गया है जो प्रथम पंचभूत आकाश से बना है। यह याद रखना चाहिए कि पदार्थ की मानसिक धारणा एक चित्तवृत्ति ही है और इसीलिए उस आकाश तत्त्व से निर्मित है जिससे मन निर्मित है। उस पदार्थ का उच्चारित नाम अनादि शब्द की अस्थायी अभिव्यक्ति है। यह अनादि शब्द आकाश की स्थायी अभिव्यक्ति है। इस प्रकार नाम के साथ उसके अर्थ का विचार सदा संयुक्त रहता है। नाम और विचार चेतना में सदा एक साथ उदित होते हैं। इसीलिए हिन्दू शास्त्रों में सृष्टि को केवल नाम रूप या नामरूपात्मक कहा है।[७]

भारतीय दार्शनिक भाषा की शिक्षा को दर्शनशास्त्र का अभिन्न अंग मानते थे। इस पर अपनी पुस्तक (Six Systems of Indian Philosophy) "भारतीय षड्दर्शन" में मैक्समूलर मन्तव्य करते हैं : "उन्होंने (भारतीयों ने) निश्चय ही यह अनुभव किया था कि भाषा ही विचारों का एकमात्र स्थूल रूप है। शब्दों के अतिरिक्त मानवों के पास दूसरों के ही नहीं, अपने स्वयं के विचारों को भी जानने का और कोई उपाय नहीं है। अत: विचारों का – अपने स्वाभाविक आवरण शब्द से विरहित नग्न विचारों, यही नहीं आवरित विचारों का भी विश्लेषण अथवा अनुसन्धान करने के पूर्व, विचारानुसन्धानक छात्र का यह कर्तव्य है कि वह शब्दों के स्वरूप का अनुसन्धान करे। वे उस बात को समझते थे जिसे आधुनिक दार्शनिक भी समझने में असमर्थ

---

६ मीमांसा सूत्र १.१.१८, ७ छान्दोग्योपनिषद् ६.१.३

हुए हैं कि प्रत्यक्ष और मानसिक धारणा में अन्तर है तथा विशुद्ध विचार का सम्बन्ध केवल धारणा-विषयक शब्दों से है। यही नहीं, ये दोनों अर्थात् शब्द और विचार अभिन्न हैं और पृथक् करते ही नष्ट हो जाते हैं।[८]

इसी सत्य की ओर संकेत करते हुए ऑलिवर लॉज कहते हैं : "आत्मा और देह के सम्बन्ध अथवा अधिक सामान्य दृष्टि से, आध्यात्मिक और भौतिक का सम्बन्ध, एक वाक्य के अर्थ और उसका प्रतिपादन करने वाले लिखे या बोले गये शब्दों के बीच सम्बन्ध के दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। बोलने अथवा लिखने को अर्थ का अवतरण याने उसके सार को व्यक्त अथवा प्रदर्शित करना कहा जा सकता है। व्यक्त होने के कारण वाक्य के कालक्रम अवश्यम्भावी हैं; उसका प्रारम्भ होगा, मध्य होगा और अन्त भी होगा; उसकी पुनरावृत्ति हो सकती है और वही सामान्य अर्थ अन्य शब्दों में व्यक्त हो सकता है। लेकिन वाक्य के अन्तर्निहित अर्थ को कोई काल सम्बन्ध हो, यह आवश्यक नहीं है। वह सदा सत्य और विद्यमान रह सकता है। वह अनन्त 'अब' या वर्तमान में विद्यमान रह सकता है, भले ही मानव जाति द्वारा उसकी अभिव्यक्ति और ज्ञान विभिन्न समयों पर विभिन्न प्रकार से हुआ हो।"[९]

पतञ्जलि ने शब्द के अनादित्व के सिद्धान्त का संशोधन करते हुए कहा कि वेदों का सार अनादि है, शब्द नहीं।

भर्तृहरि (सातवीं शताब्दी) ने स्फोट के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अपनी वाक्यपदीय कारिका में उन्होंने कहा : "जिन्हें शब्द की जानकारी है, वे जानते हैं कि उच्चारित शब्दों में दो शब्द होते हैं – पहला शब्द का कारण और दूसरा उसके विषय का प्रतिपादक।"[१०] इसका अर्थ यह हुआ कि शब्द के उच्चारण के पूर्व एक शब्द मन में रहता है और दूसरा उच्चारण के बाद होता है। हमारे मन में विद्यमान अव्यक्त शब्द स्फोट कहलाता है। यह स्फोट नाद-ब्रह्म या शब्द-ब्रह्म भी कहलाता है। हिरण्यगर्भ (समष्टि मन) सर्वप्रथम नाम के रूप में अभिव्यक्त हुआ, उसके बाद रूप में, जो

---

८ संस्करण १९२८, पृ. ४०२, ९ Life and matter, P. ११५, १० (१.४४)।

यह ब्रह्माण्ड है। इस रूप के पीछे अनादि-अनन्त अव्यक्त स्फोट है। यह भी विचारों अथवा नामों का मूल अनादि आधार तत्त्व है। यही परमात्मा की विश्व सृजनशक्ति है। परमात्मा सर्वप्रथम स्फोट के रूप में सीमित होता है और उसके बाद और अधिक स्थूल इन्द्रियगम्य जगत् के रूप में अपने को विकसित करता है। इस स्फोट का बस एक ही सम्भावित शब्द प्रतीक हो सकता है और वह है यह ओम्।[११]

ऋग्वेद में सरस्वती कहलाने वाली वाग्देवी की बहुतसी स्तुतियाँ हैं। वेदों के ब्राह्मण अंशों में उसे हिरण्यगर्भ की एकमात्र सहायिका बताया गया है जिसने नाम रूप के उद्भव में उसकी सहायता की। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि "उसका मन वाणी के साथ संयुक्त हुआ" और वहाँ उसे अदिति कहा गया है।[१२] मंत्रों की शक्ति की प्रतिपादिका या प्रतिनिधि होने के कारण यह बाद में आगमों (जो तंत्र भी कहे जाते हैं) में शक्ति के रूप में जानी जाने लगी।

उच्चारित शब्द का एक अर्थ होता है। यह अर्थ शब्द द्वारा अभिव्यक्त विषय या विचार होता है। शब्द सुनाई देने पर सर्वप्रथम एक मानसिक धारणा बनती है और उसके बाद मन में अर्थ उद्भासित हो उठता है कि विषय निकट है या दूर; अथवा यदि शब्द से कोई भाव व्यक्त हुआ हो तो वह मन के द्वारा ग्रहण होता है।

यदि सामान्य शब्दों के साथ ऐसी बात हो तो दैवी शब्दों अथवा रहस्यात्मक प्रतीकात्मक शब्दों के साथ भी यही बात सत्य होनी चाहिए। दिव्य शब्द जैसी कोई वस्तु होती है जिसमें कारणात्मक प्रभाव होता है। इस कारणात्मक प्रभाव से समष्टि विराट मन में विचार उठते हैं। उच्चारित शब्द सूक्ष्म शब्द की स्थूल अभिव्यक्ति मात्र है और सूक्ष्म शब्द कारणात्मक शब्द की अभिव्यक्ति है।

ईश्वर शब्दोच्चारण करता है और उसकी वाणी से जगत् की सृष्टि होती है। यह एक अत्यन्त पुरातन सिद्धान्त है जिसे निरीश्वरवादी जैन और बौद्ध

११ स्वामी विवेकानन्द कृत भक्तियोग, १२ (१०.६.५.४)

धर्मों को छोड़ सभी धर्म स्वीकार करते हैं। बाइबिल के जेनिसिस नामक अध्याय में कहा गया है, "ईश्वर ने कहा प्रकाश हो, और प्रकाश हो गया।" यहूदी शास्त्रों में दैवी शब्द सृष्टिशक्ति-समन्वित माना गया है। शब्द सृष्टि के पूर्व रहता है। ईसा की चतुर्थ गाथा का प्रारम्भ इस प्रकार होता है, "प्रारम्भ में शब्द था और शब्द ईश्वर के साथ था और शब्द ईश्वर था।" विद्यमान धर्मशास्त्रों में सबसे पुरातन वेदों में कहा गया है, "ब्रह्म सर्वप्रथम विद्यमान था। दूसरा शब्द था जो उसके साथ था; शब्द ब्रह्म है।" शब्द को उससे दूसरा कहा गया है क्योंकि पहले वह ब्रह्म में अव्यक्त रूप से रहता है और बाद में शक्ति के रूप में उससे प्रकट होता है। इस प्रकार शब्द ब्रह्म की शक्ति है जो शक्तिमान के साथ एक है।

सर्वातीत ब्रह्म अथवा विशुद्ध चैतन्य निष्क्रिय होता है। उसमें कोई शब्द नहीं होता। अत: कोई अर्थ, कोई मानसिक धारणा, कोई विराट् विचार और इसीलिए कोई नाम और रूप भी नहीं होता। इस शान्त अनन्त ब्रह्म में एक सूक्ष्मतम क्षोभ उत्पन्न होता है और इसी से ब्रह्माण्ड की नाना शक्तियों का उद्भव होता है। यह शक्ति-समन्वय सृष्टिप्रक्रिया तथा दृश्य और द्रष्टा, मन और स्थूल पदार्थ के द्वैत का कारण है। शक्ति का खेल चिदाकाश में इस तरह होता है कि यह चिदाकाश नये परिदृश्य के उपस्थित होने पर न तो उससे प्रभावित होता है और न ही उसके द्वारा मिटता है और यह नयी परिस्थिति सर्वव्यापित्व और सर्वातीतत्व, दोनों की होती है। इस शक्ति के प्रभाव से विशुद्ध चैतन्य की एकरसता दृश्य और द्रष्टा युक्त विश्व की विविधता में परिणत हो जाती है। लेकिन इससे एकत्व अथवा अद्वैत की हानि नहीं होती है। वह केवल द्रष्टा और दृश्य में अन्तर्भूत हो जाता है। यही सृष्टि है और एक कल्प तक विद्यमान रहती है जो ब्रह्मा का केवल एक दिन है। इसके बाद प्रलय होता है। प्रलय में भावी सृष्टि का बीज विद्यमान रहता है।

मूलाप्रकृति के स्पन्दन या प्रारम्भिक हलचल से ही सृष्टि का प्रारम्भ सम्भव है। विशुद्ध चैतन्य के साथ पूर्ण शान्ति और निष्क्रियता रहती है। लेकिन प्रकृति में गति और शक्ति होती है। विश्व ब्रह्माण्ड के विलय के समय

प्रकृति सत्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था में रहती है। प्राय: विराट्-सुषुप्ति कहलाने वाली इस साम्यावस्था के समाप्त होने पर प्रकृति में हलचल होती है। यह हलचल प्रथम विराट् स्पन्दन है, जिससे साम्य-स्थित शक्ति प्रकट होती है। इस हलचल का निकटतम शब्द ओम् है। कारण शक्ति या स्पन्दन शब्द-ब्रह्म भी कहलाता है।

इस सृष्टि से द्वैत जगत् अपनी समस्त विविधता के साथ उत्पन्न होता है। चैतन्य के द्रष्टा और दृश्य, मन और जड़ पदार्थ, के रूप में विभक्त होने पर ये दोनों एक ही कारण वाली दो समानान्तर शृंखलाएँ बन जाती हैं। इस द्रष्टा में एकमात्र तत्त्व आत्मा विद्यमान रहती है और दृश्य में भी यह एकमात्र तत्त्व रहता है। अत: मन और स्थूल पदार्थ एक स्वाभाविक सम्बन्ध द्वारा संयुक्त हैं। इसीलिए भावना और भावना के पदार्थ, दर्शन और दर्शन के विषय में परस्पर सम्बन्ध रहता है। अत: संवेदन और उसके विषय एक ही वस्तु के दो रूप हैं। मन और इन्द्रियों के द्वारा किसी विषय का ज्ञान होने पर मन में ठीक प्रत्यक्षीकृत विषय के अनुरूप एक चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है। यही कारण है कि मंत्र के जप, उपासना और ध्यान के द्वारा मन उपासित विषय का रूप धारण कर ध्यान के विषय इष्ट देवता की पवित्रता और दिव्यता के द्वारा कुछ समय के लिए पवित्र हो जाता है। निरंतर अभ्यास द्वारा मन अन्य विषयों को छोड़कर केवल इसी एक विषय का चिन्तन कर पवित्रता में प्रतिष्ठित हो जाता है। साधना का यही उद्देश्य है।

मन और जड़ पदार्थ :

वेदान्त के अनुसार, विशुद्ध चैतन्य या आत्मा के अतिरिक्त सब कुछ जड़ पदार्थ है। मन तथा जड़ पदार्थ के साथ सम्बन्धित होने पर यह चैतन्य इनमें अनुस्यूत हो जाता है। मानव जैसे किसी प्राणी में मन और जड़ पदार्थ के द्वारा आवरित होने पर यह चैतन्य व्यष्टि-जीव बन जाता है। विराट् मन और विराट् पदार्थ के द्वारा आवरित होने पर वह समष्टि आत्मा या विराट् पुरुष हो जाता है।

व्यष्टि-जीव और समष्टि-आत्मा, दोनों के स्थूल, सूक्ष्म और कारण, ये तीन शरीर होते हैं। जाग्रत् अवस्था में हम स्थूल शरीर में रहते हैं। स्वप्नावस्था में हम विचारों और भावनाओं से युक्त सूक्ष्म-शरीर में रहते हैं। स्वप्नरहित सुषुप्ति अवस्था में हम व्यष्टि माया या प्रकृति से निर्मित कारण शरीर में रहते हैं। मानव इन तीनों में से किसी एक में रहता है लेकिन इन सभी में विद्यमान जीवात्मा एक ही है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की तीन अवस्थाएँ एक ही जीवात्मा की तीन अवस्थाएँ हैं। जाग्रत अवस्था में वह विश्व कहलाता है, स्वप्नावस्था में तैजस और सुषुप्ति में प्राज्ञ।

जीवात्मा की इन तीन अवस्थाओं के समानान्तर समष्टि आत्मा या परमात्मा की भी तीन अवस्थाएँ होती हैं। ये हैं विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर। ईश्वर की शक्ति को प्राय: मायाशक्ति या प्रकृतिशक्ति कहा जाता है। इस प्रकार विराट् वह परमात्मा है, जिसका स्थूल शरीर यह समग्र ब्रह्माण्ड है, जो हमारे स्थूल शरीर के समकक्ष है, जिसका हमें जाग्रतावस्था में भान होता है। हिरण्यगर्भ भावों और विचारोंयुक्त मनोजगत् रूप सूक्ष्म शरीर समन्वित परमात्मा है जो हमारी स्वप्नावस्था के अनुरूप है। ईश्वर के रूप में परमात्मा का प्रकृति या समष्टि अविद्या शरीर है तथा यह हमारे सुषुप्तावस्था के अज्ञान के समकक्ष है। अन्तर केवल यह है कि हम व्यष्टि अज्ञान या अविद्या द्वारा प्रभावित होते हैं पर ईश्वर अविद्या का नियन्ता है। इसी में भावी सृष्टि का बीज विद्यमान रहता है। एक ही परमात्मा के ये तीन शरीर हमारे स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के समकक्ष हैं जिनमें हम जागते, स्वप्न देखते अथवा गाढ़ निद्रा में सोते समय रहते हैं। ये शरीर, चाहे वे जीवात्मा के हो या परमात्मा के, माया या प्रकृति की शक्ति से उत्पन्न उपाधियाँ हैं।

मन भौतिक स्तर पर शक्ति या प्रकृति की अभिव्यक्ति होने के कारण जड़ पदार्थ की तरह जड़ ही है। वह स्थूल पदार्थ की तुलना में सूक्ष्म है और स्थूल पदार्थ शक्ति या प्रकृति की तन्मात्रा नामक अतिसूक्ष्म और तनु अवस्था का घना और स्थूल रूप है। अन्तिम विश्लेषण में प्रकृति मन और जड़ पदार्थ दोनों में सामान्य रूप से विद्यमान है और दोनों की निमित्त है।

वेदान्त की मान्यता है कि मन न तो सर्वव्यापी है और न ही आण्विक। वह सीमित है, विभिन्न भागों में विभक्त किया जा सकता है; अत: विषयों का रूप ग्रहण कर सकता है। मन का एक भाग एक वस्तु का चिन्तन कर सकता है और उसी समय दूसरा भाग दूसरी वस्तु का चिन्तन कर सकता है। वह प्रत्यक्षीकृत विषय का आकार उसके अनुरूप ले सकता है, अत: उसके अनुरूप संकुचित और विस्तारित हो सकता है। जाग्रत और स्वप्नावस्था में वह हमारे समग्र शरीर में व्याप्त रहता है। सुषुप्ति अवस्था में अन्य सभी वस्तुओं की तरह वह कारण शरीर में विलीन रहता है।

पदार्थ के घनत्व के अनुसार अनेक प्रकार होते हैं। स्थूल पदार्थ उसी के सूक्ष्म रूप अर्थात् तन्मात्रा से उत्पन्न हुआ है। ये तन्मात्राएँ स्थूल कर्णादि इन्द्रियों द्वारा नहीं जानी जा सकती हैं। योगी इनका अनुभव मन से करता है। योगशक्तिसम्पन्न व्यक्ति सूक्ष्म विषयों को इन्द्रियों और मन के द्वारा जान सकता है। ये शक्तियाँ मन की ही विकसित अवस्थाएँ हैं। विल्सन पर्वत पर स्थित १०० इंच व्यास वाली दूरबीन आकाश के आठवें भाग को दिखा सकती है। पालोमर पर्वत पर स्थित २०० इंची दूरबीन अब दर्शनीय आकाश के एक चौथाई भाग को दिखा सकती है। यंत्रों को अधिक सक्षम बनाकर हम अधिक जान सकते हैं। लेकिन एक सीमा के बाद प्रत्यक्षीकरण इन्द्रियों द्वारा नहीं बल्कि मन द्वारा होता है। परमात्मा को छोड़कर सब कुछ मन द्वारा देखा जा सकता है। वाणी और मन के परे होने के कारण वह कभी इनका विषय नहीं हो सकता। विषयों की अनुभूति सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती है। अन्त में चरम अनुभूति की अवस्था होती है जहाँ द्रष्टा और दृश्य नहीं रहते। मन और वाणी उसका संकेत भर कर सकते हैं।

चरम शब्द :

शब्द वहीं हो सकता है जहाँ स्पन्दन या हलचल हो। यदि स्पन्दन न हो तो शब्द नहीं होगा और यदि शब्द न हो तो स्पन्दन नहीं हो सकता।

निर्गुण, निराकार, निष्क्रिय परब्रह्म शब्दातीत है लेकिन ईश्वर (शक्तियुक्त

ब्रह्म) ब्रह्म या परम शब्द है। यह शब्द का कारण शरीर है। शब्द तन्मात्र शब्द का सूक्ष्म शरीर है और आकाश शब्द का स्थूल शरीर है। इसे वायु के माध्यम से ही जाना जा सकता है। ध्वनि तरंगें उसी से होकर कर्ण का स्पर्श करती हैं। जब मन इनके साथ संयुक्त हो जाता है तब शब्द का संवेदन होता है।

शब्द तन्मात्र विशुद्ध शब्द स्वरूप है जिसका अनुभव हिरण्यगर्भ (या विराट् मन), तथा हिरण्यगर्भ के साथ एकत्व प्राप्त करने वाले योगियों द्वारा होता है।

स्थूल शब्द या तो वेदों की श्रुतियाँ है या मानव द्वारा बोली गई वाणी। ईश्वर 'शब्द ब्रह्म', 'शब्द तन्मात्रा', 'वैदिक शब्द' और 'मानव की वाणी', इन चारों को जानता है। हिरण्यगर्भ अन्तिम तीन का साक्षात्कार कर सकता है। ऋषिगण अन्तिम दो का और सामान्य मानव केवल अन्तिम को ही जान सकते हैं।

अब शब्द, अर्थ और उसके अनुभव के व्यष्टि और समष्टि स्तरों का विचार करने पर हम देखेंगे कि ईश्वर के स्तर पर समष्टि कारण शरीर विद्यमान है। ईश्वर अपने आनन्दमय कोष[१३] का तथा उस विराट् भावराशि का जिससे जगत की सृष्टि हुई है, स्वयं अनुभव कर सकता है। यह विराट् भाव परमशब्द है। यह विकसित होकर मंत्रादि सहित अनेक निम्न प्रकार के शब्दों का रूप लेता है। ऋषियों के कर्ण में यह ओम् के रूप में भासता है।

वेदों में सृष्टि का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है। सृष्टि शब्दों के कारणात्मक पक्ष से रचित हुई है। इस विषय में वेदों का कथन है, "परम शब्द से सृष्टि होती है।" सृष्टि को सृष्टि के भाव के रूप में स्वीकार कर वेदों का कथन है कि सृष्टि 'बोध-मात्र' है। शब्द के अर्थ के सन्दर्भ में वेदों

---

१३ यह मानव में सुषुप्तावस्था में विद्यमान आनन्दमय कोष के समकक्ष है। इसे आनन्दमय इसलिए कहा जाता है कि गाढ़ निद्रा सुखदायक होती है। मानव में पाँच कोष होते हैं जिन्हें तीन शरीरों के रूप में भी देखा जाता है। आनन्दमय कोष और कारणशरीर एक ही हैं। यह स्वप्नरहित सुषुप्ति में रहता है।

का कथन है, "सृष्टि अर्थमात्र है।" याने वह परम अर्थ, विराट् सत्ता, विराट् पदार्थ या प्रकृति शक्ति है।

अपने कारण शरीर का, जिससे ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है, बोध होने के कारण ईश्वर को 'मैं ही सब हूँ', ऐसा अनुभव होता है। वह स्वयं को सभी के रूप में, सामान्य अथवा विशेष रूप में, अनुभव करता है। वह 'बहु' होने की कामना करता है और उससे तत्त्व समूह उत्पन्न हो जाते हैं। इन तत्त्वों की उत्पत्ति का अर्थ वेदान्त में यह है : (१) इन्द्रियों द्वारा अगम्य तन्मात्राओं की उत्पत्ति (२) महाभूतों की उत्पत्ति। ये महाभूत स्थूल अथवा सूक्ष्म हो सकते हैं। अहंकार, निश्चयात्मिका बुद्धि, बाह्य जगत् से संवेदन प्राप्त करने वाला मन और चित्त अथवा अवचेतन मन – ये चारों अन्त:करण कहलाते हैं – तथा सूक्ष्म कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा प्राण। ये सभी सूक्ष्म महाभूतों से उत्पन्न होते हैं। इनकी सृष्टि के साथ इनके नैसर्गिक नाम भी उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अव्यक्त शक्ति के व्यक्त अथवा सक्रिय शक्ति में परिणत होने की प्रवृत्ति के शब्द-प्रतीक ओम् से इन महाभूतों के बीज कहलाने वाले नैसर्गिक नाम, हं, यं, रं, वं, लं तथा माया के बीज अथवा प्रकृति के 'ह्रीं' जैसे अन्य बीजों की उत्पत्ति होती है।

हम सभी जानते हैं कि संवेदनशील यंत्रों का उपयोग कर हम ऐसी ध्वनियों को सुन सकते हैं जो खाली कान से न सुनी जा सकें। योग में निष्णात व्यक्ति और अधिक सुन सकता है। सर जॉन वुड्रॉफ ने ठीक ही कहा है, यदि तुम वृक्ष के भीतर रस के ऊपर उठने को सुन सको तो वह शब्द उस वनस्पति प्रक्रिया का निकटतम प्राकृतिक नाम होगा। इसी प्रकार यह कहा जाता है कि जब कुण्डलिनी शक्ति षट्चक्र भेदन करती है तो शक्ति द्वारा क्रमशः उन छः चक्रों को उज्जीवित करते समय उत्पन्न ओम्, हं, रं आदि बीज शब्दों को योगी प्रत्यक्ष सुन पाते हैं। उच्चतम स्तर पर आरोहण करने पर योगी सभी शब्दों में से किसी भी शब्द का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है।

परब्रह्म का साक्षात्कार होने पर योगी ब्रह्म ही हो जाता है। तब समस्त

तनाव दूर हो जाते हैं और शान्ति विराजती है।

शक्ति या प्रकृति की प्रथम क्रियात्मक हलचल का शब्द ओम् उस क्रियात्मक प्रवृत्ति द्वारा निदर्शित समग्र ब्रह्माण्ड का शब्द प्रतीक है। ओम् से सभी मंत्रों की उत्पत्ति हुई हैं। ओम् से सभी अक्षर और ध्वनियाँ पैदा हुई हैं। वह आदि शब्द का निकटतम प्रतीक है।

नैसर्गिक नाम :

हमने वृक्ष में रस के ऊपर उठने जैसी गतिशील वस्तु के नैसर्गिक नाम अथवा मानव में मूलाधार से उच्चतर चक्रों तक कुण्डलिनी के आरोहण का योग की भाषा के नामों का उल्लेख किया है। अतः नैसर्गिक नाम सृजनात्मक शक्ति अथवा वस्तु का निर्माण करने वाली शक्तियों द्वारा पैदा हुआ शब्द है। यह मानव कर्ण द्वारा सुना नहीं जा सकता। यह उस चरम अनन्त कर्ण द्वारा सुना जाता है जो शब्द के सार को देश, काल, पात्र अथवा स्तर से निरपेक्ष स्थिति में सुन सकता है। किसी वस्तु का नैसर्गिक नाम वह है जिसे चरम अनन्त कर्ण सुने। सही अर्थों में मानवों द्वारा प्रयुक्त नाम नैसर्गिक नाम नहीं हो सकता। वह उसका केवल निकटतम नाम हो सकता है। इस दृष्टि से 'ओम्' भी शक्ति या प्रकृति के प्रथम सामान्य स्पन्दन का प्रतिनिधि होने के कारण केवल निकटतम नाम ही है। लेकिन योगियों के कर्ण यथार्थ शब्द को सुन सकते हैं। कोई भी ससीम जिह्वा उसका यथार्थ उच्चारण नहीं कर सकती और कोई भी ससीम कर्ण उसका सटीक श्रवण नहीं कर सकता।

मंत्र विज्ञान के अनुसार बीजमंत्र नैसर्गिक मंत्रों के निकटतम प्रतिनिधि हैं। लेकिन उनके महत्त्व को समझाने के लिए शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है जो नैसर्गिक नाम हैं ही नहीं।

ओम्, हंसः, स्वाहा इत्यादि हिन्दू-आर्यों की श्रुतियाँ अर्थात् वेदों में प्राप्त निकटतम नैसर्गिक नाम हैं। रं, ह्रीं, ऐं आदि तंत्रशास्त्र में प्राप्त तांत्रिक बीजमंत्र हैं।

हंस: प्राणक्रिया का कारण शब्द, प्राण-बीज है। यदि हम श्वास-प्रश्वास पर ध्यान दें तो देखेंगे कि श्वास बाहर छोड़ने से 'ह' और भीतर खींचने से 'स' जैसी ध्वनि होती है।

सर्वातीत दृष्टि से परमशिव नामक परमचैतन्य निष्क्रिय है। लेकिन सक्रिय अथवा शिव-शक्ति की दृष्टि से उसके चैतन्य और शक्ति, ये दो भाग हैं। इस स्थिति में चैतन्य अपनी क्रियाशक्ति के परिणामों के साथ एक हो जाता है। अर्थात् वह अनुभव के द्रष्टा के रूप में मन तथा दृष्य के रूप में जड़ पदार्थ के साथ एक हो जाता है।

प्रपञ्चसार तंत्र में कहा गया है "परबिन्दु स्वयं को दो भागों में विभक्त करता है।" इनमें जो दाहिना है वह पुरुष (हं) है और बायाँ विसर्ग (स:) है। हंस: (में) पुरुष अथवा चैतन्य और प्रकृति अथवा पदार्थ का मिलन है। यह हंस: ही ब्रह्माण्ड है। तांत्रिक बीज 'रं' को लो। यह एक योगी द्वारा सुना गया अग्नि की कारणशक्ति का प्रतीकाक्षर है और मानवी भाषा में 'रं' कहा जाता है। कारणशक्ति का शब्द और उत्तेजक प्रभाव के कारण किसी वस्तु से पैदा हुआ शब्द एक नहीं हैं। इनमें से द्वितीय को सुना जा भी सकता है लेकिन कारणशक्ति के शब्द को केवल योगी के कर्ण ही सुन सकते हैं। पूजा के समय उपासक 'रं' का उच्चारण करता है और कल्पना करता है कि वह बाह्य जगत् के अशुभ प्रभाव से रक्षा करने वाली अग्नि की एक दीवार से घिरा हुआ है।

नाद और बिन्दु सभी बीजमंत्रों में होते हैं। नाद का शाब्दिक अर्थ है ध्वनि और यह मंत्र विज्ञान का एक पारिभाषिक शब्द है। यह शब्द का अधिक सूक्ष्म रूप है और क्रियाशक्ति की प्रथम अभिव्यक्ति है। परमानन्द परमशक्ति है। यह नाद में विकसित होता है जो शब्द के रूप में व्यक्त होने वाले सार अथवा बीज की अव्यक्त अवस्था है। यह उसके स्वरूप वाले बीज में परिणत होता है।

बिन्दु का शाब्दिक अर्थ है अनुस्वार जैसा एक बिन्दु, अथवा बूँद। यह गणित के बिन्दु जैसा नहीं है जिसका आयाम नहीं है पर स्थिति है।

लेकिन यह बिन्दु फैलावयुक्त है और उसका आयाम और स्थिति दोनों ही नहीं हैं। वह 'एक' है जिसमें 'बहु' सन्निहित है। इसमें सत्ता और असत्ता, सर्व और शून्य दोनों एक साथ हैं। इसे षट्कोण यंत्र के मध्य के अविभाज्य बिन्दु के रेखाचित्र द्वारा निरूपित किया गया है। इसे सृष्टि का प्रतीक माना गया है। कभी-कभी इस बिन्दु के चारों ओर एक वृत्त अंकित किया जाता है।

मानव बिन्दु की धारणा एक अत्यन्त छोटे और सूक्ष्म बिन्दु के रूप में ही कर सकता है जिसमें यह सारा विस्तारित और अभिव्यक्त जगत् लीन है। लेकिन वस्तुतः यह शक्ति या चेतना का ही एक रूप है। बीज मंत्रों में बिन्दु ऊपर और नाद नीचे लिखा जाता है।

प्रत्येक देवता या देवी का एक बीज होता है। किसी भी देवी या देवता की पूजा का मुख्य मंत्र मूल मंत्र कहलाता है। इस प्रकार प्रत्येक अक्षर, शब्द और मंत्र ब्रह्म के ही रूप हैं। इसी प्रकार प्रतिमा, यंत्र की रेखाएँ और जगत् की सभी वस्तुएँ भी। सभी अक्षर शब्द शक्ति के रूप में शक्ति के ही रूप हैं। वे जगत के रूप में स्वयं को सृष्ट करने वाली जीवन्त शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। देवता का मंत्र देवता ही है। उसके शब्दों के समस्वर स्पन्दन पूजक के कोशों के असम स्पन्दनों को समरस बनाकर पूजक का रूपान्तरण कर देते हैं। पूजक की साधनाशक्ति से देवता का रूप प्रकट होता है जो मंत्र है। बीज का अर्थ देवता ही है।[१४]

---

१४ अधिक जानकारी और लाभ के लिए पाठक सर जॉन वुड्रॉफ की पुस्तक 'वर्णमाला' Varnmala (Garlend of letters) अथवा Vedant for East and West Nov. Dec. 1955 पढ़ सकते हैं।

□□□

(६)

भगवन्नाम का जप

स्वामी भव्यानन्द

जप के पूर्व बाह्य और आन्तरिक जीवन में समरसता लानी चाहिए। स्वस्थ शरीर का होना निश्चय ही महान् सौभाग्य है। अस्वस्थ शरीर साधना में बाधक है। शारीरिक स्वास्थ्य तथा शारीरिक कार्यप्रणाली की ठीक से देखभाल करना चाहिए। पुरातन भारतीयों ने इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए हठयोग के आसनों का विधान किया था।

इसके बाद है "स्वस्थ शरीर मे स्वस्थ मन"। स्वस्थ मन का क्या अर्थ है? पवित्र विचारों से मन स्वस्थ होता है। साथ ही हमारे मन की दिशा आध्यात्मिक लक्ष्योन्मुखी होनी चाहिए।

आध्यात्मिक साधना से भौतिक (कुण्डलिनी) शक्ति के केन्द्र सक्रिय हो उठते हैं। इन शक्ति-केन्द्रों के सक्रिय होने से ऊर्जा प्रवाहित होती है तथा चञ्चलता पैदा होती है। कुछ निम्न केन्द्र सक्रिय होकर काफी समस्या पैदा कर सकते हैं। उसका सामना करने में स्नायविक तनाव होता है। सभी साधकों को न्यूनाधिक मात्रा में इस समस्या का सामना करना पड़ता है।

साधना में हमें शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की क्रियाओं को नियंत्रित करने की कला सीखनी पड़ती है। यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि दोनों समञ्जित रूप से कार्य करें। जैसा पहले कहा जा चुका है; अच्छे स्वास्थ्य के लिए देह को उचित आहार और व्यायाम प्रदान करना आवश्यक है। जरूरतमन्द लोगों की सहायता और सेवा में भी कुछ शक्ति क्षय करना

चाहिए। निष्काम सेवा से आध्यात्मिक पुरस्कार प्राप्त होता है। जहाँ तक मानसिक स्वास्थ्य का सम्बन्ध है, उसके लिए उपयोगी कुछ सद्गुणों का विकास करना चाहिए। वे हैं : निर्भयता, आशय की पवित्रता, विवेक, उदारता, संयम। सत्य निष्ठा, ईमानदारी आदि की शिक्षा देने वाली ऐसी पुस्तकें पढ़ना चाहिए जो मन को स्वास्थ्यकर आहार प्रदान करें। इसके साथ ही हमें आन्तरिक षड्रिपुओं – काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य – पर विजय प्राप्त करना चाहिए। ये बाह्य परिस्थितियों के प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रियाएँ हैं। इनके नियंत्रण से मन की शान्ति में सहायता होगी, और तभी देह-मन तनावरहित हो परस्पर सामंजस्य से साथ कार्य करेंगे।

इसके बाद है भगवन्नाम का जप। भगवन्नाम का जप स्वयं भी आन्तरिक समरसता पैदा करता है। इससे सारे तनाव दूर हो जाते हैं। कुछ लोग ध्यान में बैठते समय अत्यन्त तनावयुक्त हो जाते हैं। उनका मन चञ्चल और श्वास-प्रश्वास असन्तुलित रहता है। सही मनोभाव से किया गया जप मन को पुनः शान्त कर देता है। देह और मन को तनावशून्य और पूर्णरूपेण शान्त हो जाना चाहिए।

मंत्र क्या है? या तो वह कोई गूढ़ाक्षर हो सकता है या कोई भगवन्नाम। अतीत में प्रभावशाली प्रयोग के कारण इन नामों ने पवित्रता और शक्ति अर्जित कर ली है। जब अधिकारी शिष्य मंत्र प्राप्त कर निर्देशानुसार उसका जप करता है तो लाभदायक स्पन्दनों का निर्माण होता है। ये श्रवणगम्य स्थूल ध्वनि स्पंदन हो सकते हैं अथवा सूक्ष्म और निःशब्द। वे अपनी बारी में मन में भरे विचार-स्पन्दनों को शान्त कर देते हैं। इस प्रकार जप ध्यान का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। इसका एकाग्रतापूर्वक नियमित अभ्यास करना चाहिए। जप से क्रमशः मन के सभी क्रियाकलाप नियंत्रित हो जाते हैं। प्रारम्भिक साधक को सम्भवतः यह दावा अतिशयोक्तिपूर्ण लगे। हाँ, यह ठीक ही है क्योंकि चित्तविक्षेपों का अनुभव करने वाला प्रारम्भिक साधक स्वाभाविक ही ऐसी बात स्वीकार नहीं कर सकता।

परन्तु ऐसा निर्णय करने में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। जप के

लाभदायक परिणामों को पाने के लिए बहुत लम्बे समय तक जप करते रहना पड़ता है। आध्यात्मिक जीवन में शीघ्रफल की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यदि हम साधना में निरन्तर लगे रहें तो हम इन सूक्ष्म स्पन्दनों को समझ सकेंगे और इनका अत्यन्त लाभदायंक उपयोग कर सकेंगे।

कालान्तर में हमारी आध्यात्मिक चेतना जाग्रत होगी और हम चेतना के सूक्ष्म स्तर में प्रविष्ट हो पाएँगे। सही रीति से किया गया जप अपने स्पन्दनों का चेतना तथा विचारों के सूक्ष्म स्तरों में विस्तार करता है तथा ऐसे सभी विचारों को रोकता है जो आध्यात्मिक जीवन के अनुकूल न हों। इस अवस्था में निष्ठावान साधक अपने अवचेतन मन पर जप के प्रभाव को जान सकेगा। इस अवस्था में पहुँचने पर सामान्य गतिविधियों में लगे रहने पर भी मन का एक भाग अनुच्चारित जप के आन्तरिक स्पन्दनों के प्रति सचेत बना रहेगा। संयम और अनुशासन को किसी भी अवस्था में ढील नहीं देना चाहिए। ये समुचित प्रकार से जप में सहायक होते हैं। जप और संयम साथ-साथ चलने चाहिए।

कोई पूछ सकता है, क्या गुरु आवश्यक है? क्या हम किसी पुस्तक से मंत्र नहीं सीख सकते? हाँ, सीख सकते हैं। लेकिन दोनों स्थितियों में परिणाम भिन्न होगा। किताबी ज्ञान तो किताबी ज्ञान ही होता है। उसके पीछे अनुभूति का बल नहीं होता। उसमें गुरुप्रदत्त मंत्र की क्रियात्मक शक्ति नहीं होती जिसे गुरु अपने व्यक्तिगत अनुभव द्वारा उसमें संचारित कर देता है। दीक्षा के समय गुरु वह शक्ति शिष्य को प्रदान करता है। फिर गुरु का शिष्य के प्रति प्रेम भी है। इस प्रेम के प्रभाव का अंकन हम कैसे कर सकते हैं? यह माता के सन्तान के प्रति प्रेम के समान है। माता का खाना बनाकर खिलाना एक बात है और उसी खाने को किसी दूकान या बाजार से खरीद कर लाना बिल्कुल भिन्न बात है। प्रेम और सहृदयतापूर्वक दी गई वस्तु का प्रेरक एवं उन्नतिकारक प्रभाव होता है। गुरुप्रदत्त मंत्र के विषय में यह बात और भी अधिक सत्य है। माता हमारे शरीर को जन्म देती है। गुरु हमें आध्यात्मिक जगत् में जन्म देते हैं। क्या यह किसी पुस्तक से सम्भव है?

हम यदि जप की साधना को उचित अवसर दें तो हम स्वयं पाएँगे कि वह कितनी उपयोगी है। नियमित अभ्यास से इच्छाएँ दूर होती हैं, मन शान्त होता है एवं उच्चतर चेतना का द्वार उन्मोचित होता है। भक्तिमार्ग के अनुयायी भगवन्नाम के जप को अपने आप में पूर्ण साधना मानते हैं। इससे उच्च आध्यात्मिक भावावस्था की प्राप्ति और भगवद्दर्शन होता है। हमारे ही जमाने के महान् सन्त रामदास का कथन है : ''जिह्वा पर भगवान् का दिव्य नाम रखो। अन्तर्यामी प्रभु से मिलन का यह सबसे सरल उपाय हैं। सभी भगवान् का नाम ले सकते हैं। रामदास अपने व्यक्तिगत अनुभव से यह बात कहता है।''

हम जानते हैं कि मन को संयत करना कितना कठिन है। लेकिन भगवन्नाम के निरन्तर जप से यह मन:संयम आसानी से हो जाता है। मन नियंत्रित ही नहीं, वह शुद्ध भी होता है। पवित्र मन के लिए ध्यान करना आसान होता है। हम सदा ध्यान नहीं कर सकते किन्तु सर्वत्र जप कर सकते हैं। दैनन्दिन जीवन और कर्म में सभी को अनेक विक्षेपों और निराशाओं का सामना करना पड़ता है। जप, कुछ हद तक शान्ति और सन्तुलन की पुनर्प्राप्ति का अद्भुत उपाय है। साधना करके हम इस कथन की सत्यता स्वयं जान सकते हैं। मन क्रमश: आनन्द और शान्ति से पूर्ण हो जाता है। इससे स्वभाव में प्रसन्नता आती है जो हमारे सामान्य जीवन में उपयोगी आयाम प्रदान करती है। जीवन मधुर और अर्थपूर्ण हो जाता है।

कुछ लोग कह सकते हैं कि ऐसी यंत्रवत आवृत्ति उन्हें नहीं जँचती। ऐसे लोगों को उनके द्वारा संजोए गए विभिन्न पूर्वाग्रहों व मानसिक मान्यताओं से स्वयं को मुक्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। कुछ प्रवृत्तियों, इन्द्रिय सुखों और इच्छाओं के प्रति लगाव तथा अहंकार की गहरी भावनाएँ हम सभी के स्थायी रोग हैं। अत: यह स्वाभाविक है कि प्रारम्भ में भगवन्नाम का जप मधुर न लगे। लेकिन यदि हम विवेक, वैराग्य और दीनता का थोड़ा अभ्यास करें तथा अनुभवी व्यक्ति की सलाह स्वीकार करें तो हमें शीघ्र ही जप के प्रति रुचि पैदा होगी। ज्यों-ज्यों आनन्द और शान्ति से

हृदय पूर्ण होने लगेगा, त्यों-त्यों हमारी जप की आदत बनती जाएगी। हमें एक समरसता और मुक्ति का भाव प्राप्त होगा। भगवान् के सान्निध्य का सर्वत्र और सभी में अनुभव होने लगेगा। सभी विक्षेप और असन्तुलन, समरसता और सामंजस्य में परिणत हो जाएँगे। ईश्वरीय प्रेम और आनन्द हमें परिव्याप्त कर लेगा। एक भारतीय सन्त गाते हैं :

> नाम जपन क्यों छोड़ दिया तूने।
> क्रोध न छोड़ा, झूठ न छोड़ा,
> सत्य वचन क्यों छोड़ दिया।
> कौड़ी को तो खूब सम्भाला
> लाल रतन क्यों छोड़ दिया तूने। नाम जपन ...।।

भगवन्नाम सचमुच एक रत्न है। इससे हम शान्ति और आनन्द खरीद सकते हैं। ईसा ने कहा है : "अपने प्रभु भगवान् को पूरे हृदय से, पूरी आत्मा से, पूरे मन से, अपनी पूरी सामर्थ्य से प्रेम करो।" श्रेष्ठतम परिणाम के लिए हमें भगवान् में मन-प्राण लगा देना चाहिए। जप में प्रतिष्ठित होने पर हम भगवत्प्रेम के माधुर्य से मस्त रहेंगे और यह प्रेम हमारे सभी कार्यों में अभिव्यक्त होगा।

□□□

(७)

विभिन्न धर्म-परम्पराओं में जप

स्वामी स्वाहानन्द

श्रीरामकृष्ण ने कहा है : "जप करने का अर्थ है निर्जन में चुपचाप उनका नाम लेना। एकाग्र होकर उनका नाम जप करते रहने से उनके रूप के भी दर्शन होते हैं और उनसे साक्षात्कार भी होता है। जञ्जीर से बँधी लकड़ी गंगा में जैसे डुबोई हुई हो और जञ्जीर का दूसरा छोर तट पर बँधा हुआ हो। जञ्जीर की एक-एक कड़ी पकड़कर कुछ दूर बढ़कर फिर पानी में डुबकी मार कर उसी प्रकार और आगे बढ़ते हुए लोग लकड़ी को अवश्य ही छू सकते हैं। इसी तरह जप करते हुए मग्न हो जाने पर धीरे-धीरे ईश्वर के दर्शन होते हैं।"[१]

श्रीमाँ सारदा का कथन है : "जिस प्रकार हवा से बादल दूर हो जाते हैं उसी प्रकार भगवान् का नाम सांसारिकता के बादल दूर कर देता है।"

भगवन्नाम के जप को लगभग सभी हिन्दू धर्म-सम्प्रदायों ने एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक साधना के रूप में स्वीकार किया है। पतञ्जलि ने अर्थभावना के साथ जप को एक प्रभावशाली साधना बताया है। अद्वैत मत में उसे निदिध्यासन की प्रारम्भिक तैयारी की साधना के रूप में स्वीकार किया गया है। अतः गायत्री का जप तथा उपनिषदों एवं महावाक्यों के पाठ का विधान किया गया है। तंत्रों में बीज सहित मंत्र के विधिवत् आनुष्ठानिक जप को महत्त्व दिया गया है। वैष्णवों ने जप के साथ भाव और भक्ति को अधिक महत्त्व दिया है।

---

१ श्रीरामकृष्ण वचनामृत, २४ अक्तूबर १८८५

भगवान् के नाम में अपनी निजी शक्ति होती है। सन्त पुरुषों और स्त्रियों द्वारा जिस किसी नाम का साधना में वर्षों तक प्रयोग किया गया है, वह नाम विशेष शक्ति से पूर्ण हो जाता है। हमारा अधिकांश चिन्तन सदा शब्द प्रतीकों पर निर्भर करता है। अत: मंत्र का जप मन को भगवद्भाव से पूर्ण करने में सहायक होता है। इसीलिए स्तोत्रादि पाठ, भजन-कीर्तन और स्वाध्याय उपयोगी होते हैं।

जप तीन प्रकार का होता है : वाचिक, शान्त या उपांशु (ओठों को चलाते हुए) और मानसिक। जप न बहुत तेजी से और न बहुत धीरे धीरे अपितु समगति से करना चाहिए। हिन्दू लोग सामान्यत: रुद्राक्ष अथवा तुलसी की माला का उपयोग करते हैं। अन्य धर्मों में अन्य प्रकार की मालाएँ काम में लाई जाती हैं।

जप सबसे आसान साधना है लेकिन इसे नियमित रूप से किया जाना चाहिए। भगवन्नाम के जप से क्रमशः मन एकाग्र होता है और गहरी अनुभूतियाँ होती हैं। अत: भक्तों का विश्वास है कि जप मात्र से आध्यात्मिक साक्षात्कार सम्भव है।

भगवन्नाम की बार-बार आवृत्ति अर्थात् जप को सभी धर्मों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। पर हिन्दू तथा बौद्ध धर्म में इसे बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। भाषा और परम्परा के अनुसार विभिन्न सम्प्रदायों के विभिन्न मंत्र हैं।

जापानी बौद्ध धर्म का निचीरेन सम्प्रदाय मंत्रों के जप को विशेष महत्त्व देता है। निचीरेन का निश्चित मत था कि सद्धर्म पुण्डरीक सूत्र का अध्ययन ही साधकों के लिए एकमात्र उपाय है, तथा सूत्र की आवृत्ति से मुक्ति होती है। भिक्षु लोग सूत्र का अध्ययन करते थे और गृहस्थ केवल "नमू-म्यो-हो-रेन-जे-क्यो" (सत्य पद्म सूत्र की जय हो) मंत्र का जप करते थे। इस सम्प्रदाय के अनुयायी इस सूत्र का हिन्दुओं के कीर्तन की तरह जोर-जोर से सामूहिक जप करते हैं। यह वैष्णवों द्वारा किये जाने वाले नाम संकीर्तन से मिलता-जुलता है। निचीरेन सम्प्रदाय की लोकप्रियता उसकी सरल पूजा

पद्धति तथा इस सिद्धान्त के कारण है कि जप मात्र से ही चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है।

तिब्बतीय बौद्ध धर्म में जप का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। जप-चक्र और "ओम् मणि पद्मे हूँ" मंत्र प्रसिद्ध है।

केथोलिक ईसाई धर्म में विभिन्न प्रकार की प्रार्थनाओं की नियमित आवृत्ति की जाती है। गिरजे के सदस्य प्रायः जपमाला लाते हैं और बाइबिल से किसी सरल अंश की आवृत्ति करते हैं। Hail mary (मेरी की जय हो) और Our Father (हे! मेरे पिता) की इसी प्रकार आवृत्ति की जाती है। आजकल प्रायश्चित्त में पाप का चिन्तन करने के बदले उन्हें गिरजे में एक प्रार्थना, एक स्तुत्यांश की आवृत्ति माला पर निर्दिष्ट संख्या घुमाकर करने को कहा जाता है। संतों की लम्बी नामावली का पाठ निष्ठावान ईसाई ईस्टर (शुभ सप्ताह) की तैयारी के रूप में करते हैं। धार्मिक पर्वों के अवसर पर वेटिकन के प्रसिद्ध छज्जे पर आकर पोप उपस्थित जन समुदाय को 'एन्जेलस' नामक स्तुत पाठ करने को कहते हैं।

रूसी रूढिवादी ईसाई सम्प्रदाय (Russian Ordhodox Church) में इस परम्परा की जड़ें दसवीं सदी से गहरी हुईं। Gospodji Pomiloui (प्रभु, मुझ पर कृपा करो) इस लघुवाक्य की, इस रूढ़िवादी सम्प्रदाय के कुछ लोग, आवृत्ति करते हैं। गत शताब्दी की The way of a pilgrim (द वे आफ ए पिलग्रिम) नामक एक रूसी पुस्तक में एक परिव्राजक साधु द्वारा इसका सविस्तार वर्णन किया गया है। इसमें एक तीर्थयात्री की यात्रा के अनुभवों का वर्णन है कि कैसे उसने प्रार्थना की विधि सीखी, उसका अभ्यास किया और दूसरों को सिखाया। बाइबिल के निर्देश – 'सतत् प्रार्थना करो' का अर्थ जानने के लिए वह विभिन्न आचार्यों के पास गया। एक (ग्रामीण) आचार्य ने उसे कहा, "अधिक प्रार्थना करो और अधिक भक्ति के साथ प्रार्थना करो। प्रार्थना से ही तुम्हें यह पता चलेगा कि वह निरंतर कैसे की जा सकती है लेकिन उसमें समय लगेगा।" यह भारत में प्रचलित भक्ति-परम्परा की मान्यता के अनुरूप है कि भगवन्नाम के जप से सभी दोष और बाधाएँ दूर हो जाते हैं

और अन्ततः भगवद्दर्शन होता है। यात्री को बाइबिल के इन शब्दों से विशेष प्रोत्साहन मिला, "मेरे नाम से तुम परमपिता से जो कुछ माँगोगे, वह तुम्हें वहीं देगा।" अभ्यास द्वारा उसने "Lord Jesus, have mercy on me" (ईसा मसीह! मुझ पर कृपा करो) इस प्रार्थना की आवृत्ति के गहरे परिणामों का अनुभव किया। निःशब्द जप उसके हृदय की धड़कनों के साथ-साथ होने लगा था।

सूफ़ी धर्म में जप की साधना पुरातन काल से की जाती रही है। 'धिक्र' अर्थात् भगवान् का स्मरण और उसके नाम का जप सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधनाएँ हैं। इनको पाँच नियमित नमाजों से भी अधिक महत्त्व दिया गया है। अल्लाह के नाम की आवृत्ति तीव्र एकाग्रता के साथ जितनी बार सम्भव हो सके तथा प्रायः श्वास निरोध और नासिका अथवा अन्य अंगों पर मन को एकाग्र करने आदि अन्य साधनाओं के साथ करना चाहिए। आवृत्ति जोर-जोर से अथवा मन्द ध्वनि अथवा मानसिक रूप से की जा सकती है। ग़ज़ाली का कथन है, "भक्त भगवन्नाम के जप से प्रारम्भ करे। इसके बाद जिह्वा का हिलाना बन्द कर केवल मानसिक जप करे। अन्त में सभी प्रकार की आवृत्ति बन्द करके केवल एक विचार रहना चाहिए। इस अवस्था में भक्त भगवान् की कृपा पर आश्रित हो जाये। उच्चतम भावावस्था 'धिक्र' द्वारा प्राप्त होती है। भगवच्चिन्तन की साधना को भूलकर पूरी तरह भगवान् में डूबे रहना अन्तिम अवस्था है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवन्नाम के जप की साधना सभी धर्मों में पाई जाती है। प्रसिद्ध संस्कृत कहावत है, "जपात् सिद्धिः", अर्थात् जप से सिद्धि होती है। स्वामी ब्रह्मानन्दजी अपने शिष्यों को बार बार कहते थे, "जप, जप, जप। कर्म करते समय भी जप करो। सभी कार्यों के बीच भगवन्नाम का चक्र चलते रहने दो। ऐसा करने पर हृदय की सारी ज्वाला शान्त हो जाएगी।"

संसार में जिसकी होती पूछ, नहीं स्वर्ग में उसका स्थान।
संसार में नहीं है जिसकी पूछ, स्वर्ग में वह पाता स्थान।।

– हज़रत इनायत ख़ान

□□□

(८)

चेतना का विकास

स्वामी ऋतजानन्द

साधना – एक संक्षिप्त विवरण :

Meditation मेडिटेशन शब्द को भारत में ठीक उस अर्थ में नहीं समझा जाता जैसा पाश्चात्य देशों में समझा जाता है। वेदान्त में एक अन्य समानार्थक शब्द का प्रयोग किया जाता है जो उसके वास्तविक अर्थ के अत्यन्त निकट आता है। वह है 'ध्यान' अथवा 'निदिध्यासन' या सम्भवतः 'उपासना'।

मेडिटेशन में सामान्यतः केवल एक ही आध्यात्मिक लक्ष्य, इष्ट अथवा तत्सम्बन्धी किसी भाव का चिन्तन किया जाता है। ध्यान में किसी अन्य विषय का चिन्तन किये बिना मन को तीव्रतापूर्वक आध्यात्मिक लक्ष्य में निविष्ट किया जाता है। इस साधना पद्धति को पातञ्जल योगसूत्रों से अच्छी तरह समझा जा सकता है।

उद्देश्य एक मनातीत आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करना है। अतः बुद्धि से ऊपर के स्तर तक पहुँचने की सम्भावना में यदि विश्वास न किया जाये तो कम से कम वेदान्त में ध्यान की कोई उपयोगिता नहीं है। एक वेदान्ती की यह मान्यता होती है कि ध्यान परमात्मा के साथ सीधा सम्पर्क कराने में समर्थ है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु समस्त सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति का त्याग आवश्यक है। यही नहीं विक्षेपकारी विचारों के प्रति झुकाव का त्याग भी आवश्यक हैं। ध्यान के इच्छुक व्यक्ति को स्वयं पर पूर्ण स्वामित्व

अर्जित करना चाहिए। तथा उसमें आध्यात्मिक लक्ष्य के प्रति तीव्र लालसा होनी चाहिए। निर्धारित लक्ष्य इष्ट कहलाता है।

ध्यान करना आवश्यक क्यों है? इसका उत्तर है, परमात्मा को पाने के लिए। ध्यान करने वाले परमात्मा को पाना चाहते हैं। इन लोगों का यह विश्वास होता है कि वही उनके लिए सर्वोत्तम वस्तु है, वही जीवन का चरमलक्ष्य है। भारत में यह मुक्ति कहलाता है। यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि ध्यान में मन को अत्यन्त एकाग्र, सूक्ष्म तथा यथासम्भव कुशाग्र होना चाहिए। ऐसा होने पर वह तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि का रूप ले लेता है। एक ओर तीव्र एकाग्रता होती है और दूसरी ओर गहनतम ध्यान का सार-सर्वस्व, तीक्ष्ण, परिमार्जित अन्तर्दृष्टि। ऐसा होने पर व्यक्ति सामान्य-जीवन से पूरी तरह पृथक् हो जाता है।

प्रारम्भ में जप ध्यान की साधना अत्यन्त कठिन होती है क्योंकि हमारा मन नाना प्रकार की भावनाओं और विचारों का अभ्यस्त होता है। इसके साथ अतीत के अनुभवों की ही नहीं, अपितु निकट जीवन के अनुभवों की भी स्मृतियाँ जुड़ जाती हैं। इन सारी बातों से आध्यात्मिक विषय पर मन को एकाग्र करना कठिन हो जाता है।

आध्यात्मिक आदर्श या इष्ट के ध्यान में निमग्न होने के लिए बहुत कम लोग अपने मानसिक क्रियाकलापों से स्वयं को अलग करने के इच्छुक होते हैं। लेकिन इष्ट प्राप्ति के इच्छुक निष्ठावान लोगों के लिए विभिन्न विचारों से मन को शुद्ध करने का एक प्रभावशाली उपाय है। यह है आत्मनिरीक्षण और आत्मविश्लेषण। गहन आत्मनिरीक्षण तथा सावधानीपूर्वक आत्मविश्लेषण करने से मनोजगत की समस्त बुराईयों को दूर किया जा सकता है। प्रारम्भ में यह कठिन होता है क्योंकि हम स्वयं का निष्पक्ष निरीक्षण नहीं कर पाते तथा अपने दोषों को आसानी से स्वीकार नहीं करते।

कई बार लोग अपने दोषों को खोजने के प्रयास की समस्याओं को नहीं समझ पाते। वे अपनी कमजोरियों को छुपाने की मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति को नहीं पकड़ पाते। ऐसे लोग वस्तुओं का निरीक्षण करने वाली अपनी

ही दृष्टि को स्वयं आवरित कर देते हैं। वे यह नहीं जानते कि वे वस्तुओं का सही आकलन नहीं करते हैं, बुरा व्यवहार करते हैं और यह कि उनका अपने ही मानसिक उद्देश्यों और भावों का आकलन न तो स्पष्ट है और न ही सटीक है। इसी कारण ऐसे छात्र अपने दोषों की आलोचना सहन नहीं कर पाते। अगर उन्हें इस तरह की भर्त्सना सुननी पड़े तो उनके अहंकार को चोट पहुँचती है। इससे मन को दुर्बल बनाने वाली प्रवृत्तियों के विश्लेषण की सहायता से आत्मनिरीक्षण का अभ्यास और भी कठिन हो जाता है।

जब एक शिष्य अपने गुरु के निर्देशों का पालन करना स्वीकार करता है तो वह गुरु के समक्ष अत्यन्त दीनता का ही नहीं अपितु गुरु में पूर्ण आस्था का भी प्रदर्शन करता है जो उसे गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण में समर्थ बनाता है। गुरु के निकट रहते हुए शिष्य को बहुत सी कठिनाईयों को पार करना पड़ता है क्योंकि उसके अहंकार को गुरु से निरन्तर ठेस लगती रहती है। इसके कारण उसे स्वाभाविक ही कष्ट होता है। लेकिन ऐसी परीक्षाओं के बाद वह अपने मन को एक द्रष्टा के रूप में निरीक्षण करना सीख जाता है। साथ ही उसे यह भी अनुभव होता है कि उसके गुरु वह व्यक्ति हैं जिन्होंने उंसे दूसरा जन्म, आत्मजगत् में नया जन्म दिया है। वह यह भी समझने लगता है कि गुरु प्रदत्त यह भेंट वस्तुतः अमूल्य है। इस बोधोदय के क्षण में प्रायः शिष्य अपने गुरु का ध्यान करता है। गुरु के अतिरिक्त कौन शिष्य में इतना आन्तरिक ज्ञानालोक जाग्रत् कर सकता है?

स्वयं स्वतंत्ररूप से ठीक-ठीक आत्म-निरीक्षण कर पाना बेहद कठिन कार्य है। अतः अधिकांश साधक मंत्र की सहायता से एकाग्रता के उपाय अर्थात् अत्यन्त शक्तिशाली माने जाने वाले कुछ पवित्र शब्दों के जप तथा उनके अर्थ-चिन्तन का आश्रय लेते हैं। यहाँ तक कि बच्चों को भी जप करने का निर्देश दिया जाता है और वे उसकी साधना जीवन भर करते हैं। निष्ठापूर्वक मंत्र जप करने वालों को लाभ होता है और वे साधन पथ पर प्रगति करते हैं। स्वाभाविक ही बहुत कुछ साधक की लगन और एकाग्रता की क्षमता पर निर्भर करता है।

भारत के सभी धर्मशास्त्र मंत्र को परमात्मा तक पहुँचने का एक प्रभावशाली उपाय मानते हैं। वेद और उपनिषद् इसका उपदेश बहुत पुरातन काल से देते आये हैं, और ऐसा कहा जाता है कि जब भक्त जप साधना करता है तब भगवान् स्वयं उसकी सहायता हेतु आते हैं। अतएव इस पद्धति में चित्तशुद्धि एकमात्र जप से ही होती है। इस जप साधना की सहायता से साधक सांसारिक अनुभवों के प्रति अपने आकर्षण तक को दूर करने में समर्थ हो सकता है।

शनैः शनैः भक्त के स्वभाव में सम्पूर्ण परिवर्तन दिखाई देने लगता है। श्रीरामकृष्ण ने एक दिन कहा, जब राजा अपने किसी सेवक के यहाँ जाता है तो वह पहले टेबल, कुर्सी, बर्तन आदि सामान उसके घर भेज देता है ताकि उसका सेवक उसका स्वागत उचित ढंग से कर सके। भक्त के विषय में भी यही होता है। उसमें दैवी सद्गुण प्रकट होने लगते हैं।

मंत्र का चिन्तन करते समय शब्दों के महत्त्व का चिन्तन नहीं किया जाता क्योंकि मंत्र स्वयं इष्ट-स्वरूप है। मंत्र का जप करने से इष्ट के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित होता है। अतः गहरी भावना के साथ तीव्र एकाग्रता का अभ्यास आवश्यक है। इष्ट को अपने सम्पूर्ण हृदय से प्रेम करना चाहिये।

हमारा इष्ट परमात्मा का वह रूप है जो विशेषरूप हमारे मन के अनुकूल हो। वह हमारे दृष्टिगोचर होता है। हम कहते हैं, "दृष्टिगोचर होता है" क्योंकि अनन्त (निराकार) होते हुए भी वह सगुण-साकार भी माना गया है। वस्तुतः निराकार का दर्शन हो नहीं सकता। अतः हम ऐसे एक रूप अथवा रूपों का चयन करने को बाध्य होते हैं जो हमारे स्वभाव से सर्वाधिक मिलता हो। उदाहरणार्थ कुछ भक्त ईश्वर की शक्तिमत्ता के प्रति आकृष्ट होते हैं। कुछ प्रेम और अन्य मृदुता, ज्ञान आदि के प्रति। इष्ट का चयन करते समय भक्त उसका वरण करता है जो उसे सर्वाधिक सन्तोष प्रदान करे; जो उसके विचारों और प्रेम को तृप्त करे। इस प्रकार भक्त आसानी से गहरा ध्यान कर सकता है।

कुछ साधक इस अवस्था तक पहुँचने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। वे अपने इष्ट का चिन्तन उनकी महानता, ऐश्वर्य आदि का पाठ कर आरम्भ

करते हैं। लेकिन मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि ध्यान की यह प्रक्रिया बौद्धिक नहीं है। यह केवल एकाग्रता का साधारण अभ्यास नहीं है और न ही यह लक्ष्यहीन अस्पष्ट भावुकता ही है। यह भक्त के समग्र प्रेम से परिपूर्ण तीव्र एकाग्रता है तथा जिसमें वह सारे बाह्य जगत् को भूल कर पूरी तरह लीन हो सकता है।

यह ध्यान-साधना का संक्षिप्त विवरण है।

ध्यान की पूर्व-तैयारी :

सही तरीके से ध्यान करने से हमें अपने बारे में क्या बातें ज्ञात होने लगती हैं? हम पाते हैं कि मन को दुर्बल बनाने वाली प्रवृत्तियों का खिंचाव पूर्वापेक्षा कम हो गया है तथा सामान्य स्वास्थ्य में सुधार आ रहा है। यही नहीं, एकाग्रता की शक्ति में भी वृद्धि हुई है जिसके फलस्वरूप हम जिस किसी काम को हाथ में लेते हैं उसमें अधिक सफलता हासिल करते हैं।

परन्तु धर्म का सम्बन्ध सांसारिक सफलता से नहीं है। उसका उद्देश्य परमात्मा की खोज करना है जो सबका आधार है। ध्यान का लक्ष्य चरम सत्य का साक्षात्कार है। इसी चरम सत्य को वेदान्तवादी हमारे अस्तित्व का मूल आधार मानते हैं। मैंने विश्व के विभिन्न धर्मों की अनेक पुस्तकें पढ़ी हैं तथा ध्यान और मनन की विभिन्न साधना-पद्धतियों का अध्ययन किया है। इससे मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि सभी का लक्ष्य एक ही है। ध्यान चेतना के हमारे सामान्य स्तर को अधिक उदात्त स्थिति पर उठाने की प्रक्रिया है।

हमारा स्वभावतः ही देह और मन के साथ तादात्म्य रहता है। वस्तुतः हम स्वयं को न तो अपने शारीरिक लक्षणों से और न ही मानसिक रूझानों से पृथक् कर पाते हैं क्योंकि हमारी यह गलत मान्यता बन गयी है कि देह के बिना किसी भी प्रकार का भोग सम्भव नहीं है और विचारों के बिना उल्लेख योग्य कोई व्यक्तित्व सम्भव नहीं है। हम अपने आप को अपने विचारों के साथ पूर्णरूपेण एकरूप समझते हैं। और यही एक अन्तर याने

मन और आत्मा के बीच अन्तर – समझना आवश्यक है। यह अन्तर सूक्ष्म होतें हुए भी स्पष्ट रूप से दिखाई देना चाहिए। क्योंकि तभी हम विचारप्रक्रिया को नियंत्रित कर सकते हैं। यह आत्मनियंत्रण ध्यान में सफलता के लिए आवश्यक है।

मन अथवा वेदान्तोक्त अन्त:करण के सन्दर्भ में ध्यान को समझने का प्रयत्न करें। हमारा अन्त:करण सदा सक्रिय रहता है तथा वह अत्यन्त शक्तिशाली है। वह सबल इसलिए है कि वह देह से अधिक काम करता है। हमारे सोते रहने पर भी वह कार्यरत रहता है। वह कभी तो हमारा मित्र होता है। तो कभी हमारा शत्रु हो जाता है। जब कभी हम रात को नाना विचारों के कारण सो नहीं पाते तब यह अन्त:करण हमारा शत्रु बन जाता है। जब यह उदात्त विचारों और आदर्शों का रूप ग्रहण करता है तब यह एक मित्र – एक सहायकर्ता मित्र – बन जाता है और तब हमें सचमुच प्रसन्नता होती है। अत: मन हमारे अध्ययन का मुख्य विषय होना चाहिये क्योंकि सुप्रशिक्षित होने पर वह लक्ष्य प्राप्ति में हमारी सहायता कर सकता है।

जैसा मैंने पहले कहा, ध्यान तीव्र और दीर्घकालीन एकाग्रता है। इसकी प्राप्ति अपनी समग्र शक्ति को सही दिशा में लगा कर करना चाहिए। यह सभी जानते हैं कि जीवन के लिए शक्ति या ऊर्जा आवश्यक है। उसके बिना देह कार्य नहीं कर सकती। लेकिन हमें अपनी शक्ति को सामान्य बातों अथवा ऐसी गतिविधियों में नहीं लगाना चाहिये जो हमारे गौरव की वृद्धि न करें। थोड़ी देर के लिए गंभीरतापूर्वक विचार करने से ही यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि मन में स्पष्ट लक्ष्य न होने के कारण दिन के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक सारा दिन काम करने पर भी हम अपनी ऊर्जा का अधिकांश भाग ऐसी बातों में गँवा देते हैं जो कोई विशेष महत्त्व नहीं रखतीं। यहाँ ध्यान हमारी विशेष सहायता कर सकता है क्योंकि वह हमें अपनी शक्तियों को एकत्र करना ही नहीं सिखाता बल्कि वह प्रक्रिया भी सिखाता है जिसके द्वारा हम उन्हें पुन: प्राप्त कर श्रेष्ठतम तरीके से सही दिशा प्रदान कर सकें। अवश्य यह एक कठिन कार्य है फिर भी हमारी अभीष्ट लक्ष्यप्राप्ति इसी पर निर्भर

करती है। हमारी विभिन्न ऊर्जाओं की तुलना पहाड़ों के बीच के गहरे जलस्रोतों से की जा सकती है जो अपने जल प्रवाह को एक झील में भिन्न-भिन्न स्थानों पर उडेल रहे हैं। एक बार झील से जल निष्कासन के लिए मार्ग बना लेने पर हमारी ऊर्जाएँ केवल एक दिशा में बहने लगती हैं तथा महान् शक्ति प्राप्त होती है। किसी श्रेष्ठ लक्ष्य प्राप्ति का इच्छुक समझदार व्यक्ति ऐसी ही एक योजना अपने हाथों लेता है।

ऐसे व्यक्ति का उद्देश्य सामान्य दृष्टिकोण के ऊपर उठना है। वह सामान्य रूप से विश्व के प्रति एक नितान्त नये दृष्टिकोण का तथा स्वयं के प्रति विशेष रूप से एक नवीन मानसिकता प्राप्त करना चाहता है। हम वर्तमान में अपने विषय में जो सोचते हैं वह किसी भी दृष्टि से यथार्थ नहीं है। हममें से प्रत्येक असीम शक्ति और अनन्त ज्ञान का अधिकारी है। हमारे भीतर प्रेम का एक महान् भण्डार है। क्या यह जानकारी सत्य के अनुसन्धान की प्रारम्भिक अवस्थाओं में जिन कठिनाईयों का हमें सामना करना पड़ता है, उन्हें पूर्णतया न्यायोचित सिद्ध नहीं करतीं?

यदि प्रारम्भ में हमारा मन एक स्पष्ट लक्ष्य या आदर्श से अभिभूत न हुआ हो तो पर्याप्त लगन के अभाव में हमारा ध्यान तीव्रताहीन और मन्द होगा। सर्वप्रथम हमें यह दृढ़विश्वास होना चाहिये कि लक्ष्य इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकता है। हमें कभी भी नकारात्मक विचारों का पोषण नहीं करना चाहिए, यथा "मैं नहीं कर सकता ...", "मैं आज नहीं कर सकता क्योंकि ...", अथवा "मुझमें पर्याप्त बल नहीं है, मेरा मन सदा भटकता रहता है ...।" ध्यान के समय मन के भटकाव का अनुभव सभी को होता है, विशेषकर आजकल, क्योंकि हम ऐसे काल में जी रहे हैं जिसमें हमें बहुत सी सांसारिक बातों के चिन्तन की प्रेरणा मिलती रहती है। हममें से अधिकांश नगरों और महानगरों में रहते हैं, अत: साधारण विज्ञापनों की सतत् बौछार से उत्पन्न अनिवार्य तनाव को सहना पड़ता है। यदि अपनी परिस्थिति की तुलना समाज से दूर किसी पर्वतीय गुफा में अकेले ध्यान कर रहे योगी की परिस्थिति से करें तो हमें कोई आश्चर्य नहीं होगा कि हमें

मन को एकाग्र करने में इतनी कठिनाई हो। चाहे जो हो, हमें अपने समय और शक्ति का श्रेष्ठतम उपयोग करने का प्रयत्न करना चाहिए। संसार में रहते हुए भी, नाना प्रकार के कार्य करने के लिए बाध्य होते हुए भी उच्च व्यक्तिगत आदर्श रखने से हमें कोई नहीं रोक सकता। यह बात अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। यह बात मन में अच्छी तरह बैठा लेनी चाहिए।

महान् आचार्यों ने हमें कहा है : ''लक्ष्य प्राप्त होने पर तुम देहात्मबोध के कारण पैदा होने वाली कठिनाईयों, कष्टों और संशयों से मुक्त हो जाओगे। तुम्हें किसी वस्तु की कमी नहीं होगी और न ही तुम किसी बात के लिए खेद करोगे।'' हम पूछ सकते हैं कि इस अवस्था की प्राप्ति आखिर कैसे सम्भव है? हमारे आचार्यों का उत्तर यह है कि दुःख या पीड़ा बाहर से नहीं आती। वह तुम्हारे विचारों से ही पैदा होती है। अतः यदि पीड़ा की सृष्टि हो सकती है तो निश्चय ही उस पर विजय पाना भी सम्भव है और यह तुम्हें जानना चाहिए कि यह कैसे किया जाये। ध्यान के चमत्कार से वस्तुओं और विषयों की नितान्त नयी दृष्टि हमारे अन्तर्चक्षुओं के समक्ष प्रकट होती है।

आपमें से अनेक योग के सिद्धान्तों से भलीभाँति परिचित होंगे। दुर्भाग्य से इस शब्द का काफी दुरुपयोग हुआ है। योगसूत्र के भाष्यकार का कथन है : ''योग समाधि है और समाधि का अर्थ है प्रत्यय-विहीन तीव्र एकाग्रता। अतः ध्यान, योग का साधन है।'' योगशास्त्र में हम जिन सभी उपायों का वर्णन पढ़ते हैं, वे सभी इस प्रत्यय-विहीन चेतनावस्था की प्राप्ति हेतु तैयारियाँ हैं। हम देह की देखभाल करते हैं जिससे वह शान्त और तनावरहित होकर चित्तवृत्तिनिरोध की सहायक यंत्र बन सके।

चित्त का अध्ययन सदा मेरी रुचि का विषय रहा है। चित्त शब्द का अंग्रेजी में 'Psyche' अनुवाद किया जा सकता है क्योंकि यह शब्द हमारे समग्र विचार समूह के पीछे विद्यमान वस्तु का निकटतम संकेतक है। ऐसा माना जाता है कि चित्त के दो भाग होते हैं। एक जो पूर्ण शान्त है और दूसरा वह जो अत्यन्त चञ्चल। सागर तथा उसकी सतह पर खेल रही विभिन्न

लहरों का विचार करो। चित्त उस अनन्त सागर के समान है और हमारे विभिन्न विचार लहरों-सदृश हैं। विचारों के कारण हम एक दूसरे से भिन्न दिखाई देते हैं। लेकिन इन विचारों के मूल में चित्तरूपी सागर है। प्रत्येक विचार उससे उत्पन्न होने वाली एक तरंग है जो पुनः उसमें विलीन हो जाती है। जब किसी विचार का अन्त होता है। तो उसका स्थान दूसरा विचार ले लेता है। यह नया विचार कभी कम प्रबल तो कभी अधिक प्रबल हो सकता हैं। जैसे सागर को कभी "पर्वत तुल्य लहरों से युक्त" और दूसरे समय एक "छोटी सी तलैया की तरह शान्त" कहा जाता है।

एक के बाद दूसरी लहर के रात-दिन उठते रहने के कारण तथा हम सभी को प्रभावित करते रहने के कारण हमें अपने वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होता। लेकिन यदि लहरों को शान्त किया जा सके तो मन सागर की भाँति शान्त हो जाएगा। और ऐसा होने पर हमें एक नवीन दृष्टिकोण की प्राप्ति होगी। यह क्षण मानसिक विकास की उच्चावस्था का द्योतक है।

उपयोगिता :

> **हम उस ज्योतिर्मय, वरणीय देव का ध्यान करें**
> **जिसने समग्र विश्व की सृष्टि की है।**
> **वह हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे।**
> **– गायत्री मंत्र**

जिस मंत्र को हमने यहाँ उद्धृत किया है, प्राचीनतम मंत्रों में से एक हैं तथापि आज भी भारत में बड़ी एकाग्रता से उसका जप किया जाता है। ध्यान सदा से ही भारतीयों की धार्मिक साधनाओं का आवश्यक अंग रहा है। प्रत्येक सम्प्रदाय उसके महत्त्व को जानता था। लेकिन स्वयं वेदों में हमें ध्यान की पद्धति के बारे में अधिक निर्देश नहीं मिलते। इसका मुख्य कारण यह है कि वैदिक काल में मंत्र जपादि, स्तुतियों, क्रिया-अनुष्ठानादि विषयक विस्तारित निर्देश मौखिक रूप से दिये जाते थे।

पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा आविष्कृत मूर्तियों से ध्यानाभ्यास की

अतिप्राचीनता का पता चलता है। इन मूर्तियों में ध्यान के आसन में सीधे बैठे लोगों की आकृतियाँ पायी जाती हैं। ध्यानाभ्यास द्वारा पुरातन हिन्दुओं ने अत्यधिक मात्रा में आत्मसंयम तो अर्जित किया ही, साथ ही साथ एक ऐसी शक्ति का भी आविष्कार किया था जो बाह्य-जगत् की घटनाओं को प्रभावित कर सके तथा जो स्वयं तथा अन्यों की देह पर असर डाल सके।

कालान्तर में आध्यात्मिक विचारों के विकास के साथ लक्ष्य परिवर्तित हो गया। ध्यान की साधना केवल भगवत्साक्षात्कार तथा आनन्दलाभ हेतु की जाने लगी। आज यही आदर्श अधिकांश साधकों को इस पुरातन कला को अंगिकार करने हेतु प्रोत्साहित करता है।

जब अन्तर्मुखी मन अपने आप पर एकाग्र होने लगता है तब अन्ततोगत्वा वह सभी शारीरिक एवं मानसिक उपाधियों से रहित विशुद्ध चैतन्य का साक्षात्कार करता है। इस सत्ता को उपनिषद् आत्मा कहते हैं। ध्यान रूपी साधना द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि आत्मा ही हमारा वास्तविक स्वरूप है। ध्यान द्वारा क्रमश: हमारे मन के सभी पक्षों पर विजय प्राप्त होती है तथा इस स्वामित्व के फलस्वरूप आत्मसाक्षात्कार होता है।

वेदान्त का प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आचार्य-विशेष द्वारा उपदिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति हेतु ध्यान को एकमात्र उपाय मानता है। तदनुसार काश्मीर-शैव सम्प्रदाय में अनुयायियों को सर्वव्यापी परमात्मा का हृदय में ध्यान करने का निर्देश दिया जाता है। इस तरह बाह्य जगत् के ज्ञान का विलय आत्मज्ञान में और सब का विलय शिव में हो जाता है। इस साक्षात्कार में समस्त द्वैत का नाश हो जाने के कारण हम कह सकते हैं कि शैवधर्म अन्तत: अद्वैत में पर्यवसित हो जाता है।

तंत्र साधना में ध्यान का अभ्यास उपासक, उपास्य और उपासना तीनों को चित् या विशुद्ध चैतन्य में रूपान्तरित करने के लिए किया जाता है। अत: इसकी परिणति मानवात्मा और विश्वात्मा के एकत्व की अनुभूति में होती है।

यह ज्ञात नहीं कि भगवद्गीता की रचना के समय अन्य धर्म विद्यमान

थे या नहीं। लेकिन निस्सन्देह अनेक सम्प्रदाय अवश्य थे। गीता ने इन धार्मिक आदर्शों की भिन्नता का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। और किसी पुस्तक ने इस विषय पर इतनी गहराई से विचार नहीं किया है। गीता प्रत्येक के लिए आवश्यक तीन मौलिक प्रश्नों पर विचार करती है : मैं कौन हूँ; मैं कहाँ हूँ; मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है? दूसरा महत्त्वपूर्ण विचारित प्रश्न है : निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति हेतु मुझे कौनसा मार्ग स्वीकार करना चाहिये?

आधुनिक युग में श्रीरामकृष्ण ने प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव के अनुरूप धार्मिक साधना-पद्धति की आवश्यकता पर बल दिया है। बहुत सी विभिन्न आस्थाओं और धर्मों के होने का यही कारण है। मुख्यतः भक्त-स्वभाव व्यक्ति भक्ति और प्रेम के मार्ग की ओर आकृष्ट होता है। उसे स्वामी विवेकानन्द की 'ज्ञानयोग' नामक पुस्तक सम्भवतः रुचिकर न लगे। इस पुस्तक में चरम सत्य और मानव के वास्तविक स्वरूप की चर्चा की गई है। लेकिन भक्त अपने इष्ट के ध्यान और उनसे प्रार्थना करने से ही संतुष्ट रहता है।

साधन-पथों की विविधता नितान्त आवश्यक है। गीता में सभी पन्थों का वर्णन योग के रूप में किया गया है। अतः उसको पढ़ने वाला प्रत्येक व्यक्ति – केवल हिन्दू ही नहीं – अपनी निजी अभिरुचि के अनुरूप प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। छठे अध्याय के दो शीर्षक – 'ध्यान-योग' और 'आत्मसंयमयोग' से दो भिन्न मार्गों का संकेत प्राप्त होता है। लेकिन वस्तुतः ये एक ही हैं। आत्मसंयम के बिना गहरा ध्यान असम्भव है। पतञ्जलि अपने योगसूत्रों में ध्यान के विषय में बात करते समय प्रायः स्वस्वामित्व या आत्मसंयम का पुनः पुनः उल्लेख करते हैं।

आजकल सर्वत्र ध्यान के विषय में बहुत रुचि दिखाई देती है। ग्रेट्ज़ के इस आश्रम में पहली बार आने वाले आगन्तुकों को जब मैं यह कहता हूँ कि आश्रम के अन्तेवासी सामूहिक ध्यान करते हैं तो इस जानकारी से लोगों को बड़ी प्रसन्नता होती है। इसके बाद के प्रश्न हमेशा ध्यान के विषय में ही होते हैं। इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि सभी को अनायास ही यह लगता है कि ध्यान से स्वास्थ्य अच्छा होता है और बुरी

आदतों को दूर किया जा सकता है। ध्यान मन को स्थिरता भी प्रदान करता है जिससे उच्चतर मन:स्थिति की प्राप्ति हो सकती है।

प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक निजी लक्ष्य होता है। सर्वत्र ध्यान की विभिन्न प्रणालियों का यही कारण है। एक Transcendental या इन्द्रियातीत ध्यान है। फिर आधुनिक परिस्थितियों के अनुरूप सामूहिक ध्यान है। इसके अतिरिक्त ज़ेन ध्यान, तिब्बतीय ध्यान, योग-निर्दिष्ट ध्यान आदि हैं। ये सभी ध्यान की मूल्यवान प्रणालियाँ हैं और इनके विभिन्न परिणाम हो सकते हैं।

ध्यान की विधियाँ भी एक सी नहीं हैं। यह एक व्यापक विषय है और उन सभी विधियों की रूपरेखा यहाँ प्रदान करना सम्भव नहीं है। मैं इतना ही कहूँगा कि ध्यान आवश्यक है। हमें ध्यान करना सीख लेना चाहिए और उसका यथासाध्य अभ्यास करना चाहिए। लक्ष्य अवश्य प्राप्त किया जा सकता है और थोड़ा सा प्रयास भी लाभकारी होता है। जिनके पास अधिक समय है वे अपनी अभ्यस्त मन:स्थिति की तुलना में अनेक गुनी उच्चतर ऐसी मन:स्थिति की प्राप्ति कर सकते हैं जिसकी उन्होंने कल्पना भी न की हो। सभी सम्प्रदायों की शिक्षाएँ उपयोगी हैं, लेकिन यह तभी जब हमें अपनी मन:स्थिति की स्पष्ट धारणा हो। अत: प्रत्येक व्यक्ति के लिए ध्यान सम्भव नहीं है।

उपनिषद् और पुराणादि पुरातन भारतीय धर्मशास्त्रों में बार-बार "तप" शब्द आता है। प्रत्येक भारतीय बालक उससे परिचित है। उपनिषदों में कहा गया है कि ब्रह्म को जानने के लिए तप करना चाहिए। तप से हमारे अनुसन्धान के विषय की प्राप्ति होती है।

तीव्र एकाग्रता और तितिक्षा का अभ्यास तपस्या कहलाता है। तपस्या की सहायता से ध्यानोपयोगी एक स्थिर आसन प्राप्त होता है। जिसमें साधक किंचित् मात्र हिले बिना बाह्य जगत् से पूर्ण विस्मृति की स्थिति में बैठ सकता है। वह इस भाव में डूब जाता है कि उसके बाहर कुछ और विद्यमान नहीं है। इस अवस्था में महान् ताप पैदा होता है। ऐसा साधक शीत का अनुभव

नहीं करता। चारों ओर बर्फ जमी हो तो भी उसे पसीना आता है। लेकिन यह सब एक गौण परिणाम हैं, प्रापणीय लक्ष्य नहीं। तप द्वारा गहरे ध्यान का अभ्यास दीर्घकाल तक बनाये रखा जा सकता है और अन्ततोगत्वा एक सन्तुलित व्यक्तित्व का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।

एक शाश्वत द्रष्टा के अनुसन्धान के प्रति मानव की सदियों से रुचि रही है। ध्यान, प्रार्थना, उपासना आदि सभी विभिन्न साधना-पद्धतियाँ मानव की उसकी 'आत्मा' की खोज में सहायक उपाय हैं। कुछ पाठकों को यह देखकर कि मैं ध्यान की चर्चा धर्म के साथ कर रहा हूँ, आश्चर्य होगा। इसे समझना बहुत कठिन नहीं है। वेदान्त प्रत्येक धर्म तथा उनकी प्रत्येक बात को सही परिप्रेक्ष्य में समझने में हमारी सहायता करता है। वेदान्त विभिन्न धर्मों के बीच विद्यमान निश्चित अन्तर को स्पष्ट करने में हमारी सहायता करता है। वह ध्यान द्वारा प्रापणीय आध्यात्मिक लक्ष्य के विषय में हमें निर्देश देता है जिससे हम शाश्वत सत्य का आविष्कार कर सकें।

विभिन्न धर्मों के बीच विद्यमान व्यापक विभेदों का क्या कारण है? यह सब पैगम्बर या धर्म संस्थापकों के जन्मस्थान तथा जिस क्षेत्र में उन्होंने धर्म प्रचार किया, उस पर निर्भर करता है। यदि उसी धर्माचार्य ने किसी अन्य स्थान में धर्मप्रचार किया होता तो उन्होंने वही बात उस स्थान-विशेष के अनुरूप भिन्न प्रकार से कही होती। परन्तु हम केवल युक्ति की सहायता से विश्व धर्मों के बीच समन्वय को नहीं समझ सकते हैं। यह समझ प्रज्ञा नामक एक उच्चतर ज्ञान से प्राप्त होती है।

ध्यान शब्द के स्पष्टतर ज्ञान के लिए उसका मन पर विजय प्राप्त करने की एक पूर्ण प्रणाली के रूप में अध्ययन करें। हठयोग में हमे विभिन्न साधनाओं की सहायता से देह पर प्रभुत्व स्थापित कराया जाता है। यही नहीं, मस्तिष्क पर भी प्रभुत्व प्राप्त कराया जाता है, भले ही यह अविश्वसनीय प्रतीत हो। हठयोग में निष्णात व्यक्ति का उसके फेफड़ों, पाचन तंत्र आदि सभी अंगों पर नियंत्रण रहता है। वे उसकी इच्छानुसार कार्य करते हैं। मन पर प्रभुत्व स्थापित करना कहीं अधिक है लेकिन अपने स्वरूप के ज्ञान के

लिए यह नितान्त आवश्यक है। हमें चेतना के सामान्य स्तर के ऊपर – सांसारिक विचारों से सदा पूर्ण रहने वाले मन के ऊपर – उठना होगा।

स्थिर मन के लिए स्थिर आसन आवश्यक है। अत: मन:संयम के लिए हमें ऐसे आसन में बैठना चाहिए जिसमें हम लम्बे समय तक बैठ सकें। प्रारम्भ में इसमें कुछ कठिनाई भले हो पर कुछ समय बाद साधक को पता चलेगा कि जब वह तनावशून्य सहज आसन में बैठता या बैठती है तो धीरे-धीरे एक भिन्न मन:स्थिति की प्राप्ति होती है। अवश्य तुम लोगों को यह बात स्पष्ट ही ज्ञात होगी कि योगीगण जिन आसनों में बैठते हैं अथवा चीन या जापानी बौद्ध जिन मुद्राओं में बैठते हैं वे सिद्ध आसन हैं। कई शताब्दियों में एक स्थिर आसन का विकास हुआ था जिसके द्वारा साधक उसके चारों ओर हो रही गतिविधि से पूर्णरूपेण मुक्त बना रह सकता है।

ध्यान के समय मन को श्वास-प्रश्वास, एक बिन्दु, गुरु, ईश्वर की किसी प्रतिमा आदि किसी भी वस्तु पर अथवा मैत्री, करुणा, दया, सज्जनता आदि किसी विचार या सद्गुण पर एकाग्र किया जा सकता है। ये सभी समान रूप से लाभकारी हैं। ध्यान के प्रकार अनेक हैं किन्तु हमारे मानसिक गठन के अनुरूप पद्धति को ग्रहण करना चाहिए। हममें से प्रत्येक की मानसिक पृष्ठभूमि, प्रकृति और स्वभाव भिन्न हैं जिसके साथ हमें कार्य करना है। अत: ध्यान-साधना का एक मार्ग नहीं हो सकता। जिस गुरु ने लम्बे समय तक तुम्हारा निकट से निरीक्षण किया हो, वही तुम्हारे स्वभाव के अनुरूप तुम्हारे इष्ट के विषय में सलाह दे सकता है। लेकिन गुरु से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि तुम स्वयं चयन करो। तुम्हें श्रद्धावान् भी होना चाहिए। पतञ्जलि द्वारा प्रयुक्त धारणा शब्द प्रबल लगाव या पकड़ का द्योतक है। ऐसी प्रबल धारणा का विकास कर लेना चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर आसन में फेर बदल करने पर भी तुम मानसिक रूप से विचलित न होओ, तुम्हारे मन पर इस बाह्य परिवर्तन का प्रभाव न पड़े।

बौद्ध परम्परा की एक कहानी आवश्यक मानसिक स्थिरता का उदाहरण प्रस्तुत करती है। एक बार एक संन्यासी किसी नगर के चौराहे पर गहरे

ध्यान में पूरी तरह निमग्न बैठा था। वह देहात्मबोध के परे चला गया था। (हमारे लिए देह ही सब कुछ है और हम इसे यथासाध्य स्वस्थ एवं सुन्दर बनाये रखने में अपना बहुत सा समय लगाते हैं। लेकिन इस कथा में वर्णित संन्यासी देहबोध से परे की अवस्था में पहुँच चुका था। सम्भवत: उसने कई वर्षों तक नर-कंकाल पर ध्यान किया था। कुछ बौद्ध मठों में प्रारम्भिक साधक के मन पर देह की नश्वरता की छाप बैठाने हेतु यह साधना करायी जाती है। अब कहानी पर आएँ।) इस बीच एक सुन्दर युवती ध्यानरत संन्यासी के सामने से गुजरी। उसी समय संन्यासी ने आँखें खोलीं। उसे युवती के दाँतो के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं दिया। कुछ देर बाद उसका पति उस ओर से गुजरा और उसने उस संन्यासी से पूछा कि क्या वह उसे कुछ जानकारी दे सकता है? वह अपनी पत्नी को खोज रहा है। संन्यासी ने कहा, ''नहीं मैंने किसी युवती को देखा ही नहीं, मैंने केवल कुछ हड्डियों के एक कंकाल को जाते देखा है।'' संन्यासी को दाँत देखने से तत्काल कंकाल का विचार हो आया और उसे इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई दिया।

भारत में सर्वाधिक प्रचलित ध्यान पद्धतियों में ईश्वर के विभिन्न रूपों की सहायता ली जाती है। श्रीरामकृष्ण की जीवनी में 'गोपाल की माँ' की आनन्दवर्धक घटना पायी जाती है। एक भक्त महिला ने जीवन भर बालगोपाल की उपासना की। फलस्वरूप वह उस दिव्य बालक को अपने निकट देखने लगी। वे आकर उसके साथ खेलते, उसके कन्धों पर चढ़ते और खाना माँगते। हम कह सकते हैं कि उसकी धारणा इतनी दृढ़ हो गई थी कि उसे केवल वह बालक ही दिखाई देता था, अन्य कुछ नहीं। शिव का ध्यान करने वाले शिव ही देखते हैं, ईसा पर ध्यान करने वाले ईसा का ही दर्शन करते हैं। तीव्र एकाग्रता के फलस्वरूप एक आध्यात्मिक मन:स्थिति पैदा होती है जो कभी नष्ट नहीं होती।

अब एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न को लें। हम स्वीकार करें या न करें, एक तत्त्व है जिसे हिन्दू लोग विशुद्ध चैतन्य कहते हैं। चैतन्य हमारी

वास्तविक आत्मा है। चैतन्य सदा विद्यमान रहता है। समयावधि समाप्त होने पर केवल देह कुछ समय के लिए विलीन हो सकती है। मुख्य प्रश्न है, "मैं कौन हूँ?" अगर मैं अपनी आत्मा को न जानूँ तो अन्य प्रश्न अप्रासंगिक हो जाते हैं। मुझे स्वयं की परिभाषा करनी चाहिए; मुझे स्वयं के बारे में स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए। भगवद्गीता के पूरे दूसरे अध्याय में इसी विषय पर विचार किया गया है। उसमें हमें शिक्षा दी गई है कि हम स्वरूपत: नित्य, शाश्वत, अविनाशी आत्मा हैं। यही हमारे समग्र अस्तित्व को प्रभावित करती है। लेकिन हम 'उसे' देखते नही। हमें 'उसका' बोध नहीं होता। मुझे तुम्हारा बोध है, मुझे वस्तुओं का बोध है लेकिन मुझे आत्मा का जरा भी बोध नहीं है। हम और हमारे वास्तविक चैतन्यस्वरूप के बीच क्या बाधा है? यह 'चित्त' ही बाधक है। अत: हमारे वास्तविक स्वरूप से हमें पृथक् करने वाले आवरण को दूर करने हेतु ध्यान, गहरे ध्यान, का महान् तीव्रता-पूर्वक अभ्यास करना चाहिये। सभी साधना पद्धतियों का यही उद्देश्य है।

अनेक पैगम्बरों और सन्तों ने तथा अनेक धर्मों ने सदियों से इस वास्तविक आत्मा, इस उच्चतर आत्मा की बात कही है। अत: ध्यान का उद्देश्य हमारे वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना है। यही चेतना का उच्चतम प्राप्तव्य स्तर है। इसके बाद और कुछ नहीं बचता क्योंकि तथाकथित 'अहं' विलुप्त हो जाता है। यह मन के साथ लीन हो जाता है। चित्त शान्त हो जाता है। जब तक मन स्वभावत: क्रियाशील रहता है तब तक उसे सतत् चित्रों का बोध होता रहता है। फिल्म के समाप्त होने पर केवल बिना चित्रों का खाली पर्दा बचा रहता है। इस बात को हम इस तथ्य से समझ सकते हैं कि हमारी वास्तविक आत्मा प्रकाश के समान है। हम इस प्रकाश का उपयोग सदा सभी स्तरों पर कर सकते हैं।

ध्यान और उसके द्वारा हम क्या हासिल कर सकते हैं, इसकी एक अच्छी व्याख्या है। सर्वप्रथम तो यह कहा जाता है कि हम सभी में महान् शक्ति विद्यमान है तथा हम इस शक्ति को व्यर्थ गँवा देते हैं। कभी-कभी हम इस शक्ति के अपव्यय को स्वीकार करते हैं। कभी-कभी हम इसे स्वीकार

नहीं करते क्योंकि हम इन्द्रिय विषयों में डूबे रहते हैं। योगीगण प्रायः सबसे दूर एकान्त में रहते हैं। वे पर्वतीय गुफाओं अथवा वनों में बिल्कुल अकेले रहते है जिससे शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार की शक्ति का अपव्यय रोका जा सके।

अब हम पुन: आसन के विषय में बात करें। जब देह ध्यानानुकूल आसन में पूर्णरूपेण तनावशून्य होती है तब शक्ति का न्यूनतम क्षय होता है। यदि किसी को अपने आप पर, अपने शरीर पर पूर्ण आधिपत्य हो तो शक्ति अधिक मात्रा में भीतर सञ्चित होगी। शक्ति के अपव्यय को रोकने की सहायक साधानाओं का यह प्रथम स्तर है। कोई पूछ सकता है कि इस शक्ति का उपयोग कैसे किया जा सकता है? तुम्हारे समक्ष एक लक्ष्य है। और इस सञ्चित शक्ति द्वारा तुम उस सामान्य मन:स्थिति से ऊपर उठ सकते हो जो दैनन्दिन जीवन के नाना अनुभवों के फलस्वरूप निर्मित हुई है। योग का यही लक्ष्य है। पतञ्जलि की योगप्रणाली में तीन शब्दों का उल्लेख है : धारणा, ध्यान और समाधि।

किसी वस्तु अथवा विचार पर, अथवा भ्रूमध्य या हृदय आदि देह के किसी बिन्दु पर, मन को एकाग्र करना धारणा कहलाता है। इस एकाग्रता से उत्पन्न मानसिक प्रभाव ही इस स्थिति में विद्यमान रहते हैं।

योग के अनुसार ध्यान वह स्थिति है जब मन में एक ही निरवच्छिन्न प्रत्यय-प्रवाह बना रहे।

समाधि वह स्थिति है जब जीव ध्यान में इतनी तन्मयता से डूब जाता है कि बाह्य जगत् का बोध पूरी तरह से जाता रहता है, तथा ध्येय विषय की भी चेतना नहीं रह जाती। आजकल समाधि के विषय में पूर्वापेक्षा कम विवाद हैं। यह निश्चित रूप से स्वीकार किया जा चुका है कि यह किसी प्रकार का आत्मसम्मोहन नहीं है। हमारे युग के महान् आचार्य रमण महर्षि ने समाधि को जाग्रत्-सुषुप्ति की संज्ञा दी है। जाग्रत् अवस्था सजग अवस्था है और सुषुप्ति प्रगाढ़ निद्रा। समाधि यह और वह दोनों है। हम एक ही समय दोनों अवस्थाओं में नहीं रह सकते। हम कह सकते हैं कि जाग्रतावस्था

में मैं पूरी तरह जागता हूँ। सुषुप्तावस्था में मैं पूरी तरह सोता हूँ। ये दोनों अवस्थाएँ एक साथ कैसे रह सकती हैं? यह समझना कठिन है किन्तु बात ऐसी ही है। सामान्यत: अहंबोध के सदा विद्यमान रहने के कारण यह सम्भव नहीं होता। यह 'अहं' एक महान् बाधा के रूप में उपस्थित होता है। अहं केवल सामान्य चेतना के स्तर पर ही कार्य करता है। जब मन उस स्तर पर रहता है तो अहं भी उसी स्तर पर कार्य करता है। लेकिन गहरी निद्रावस्था में अहं कार्य नहीं करता। उस समय मुझे अपने चारों ओर की घटनाओं का कोई बोध नहीं रहता। तुरीय नितान्त भिन्न अवस्था हैं : आँखें खुली है; दिखाई दे रहा है लेकिन अहंबोध इतना दुर्बल है कि उसका अस्तित्व प्रतीत नहीं होता। इस अन्तिम आवरण के हटने पर विशिष्ट चरित्रयुक्त व्यक्तित्व के रूप में, अपने निजी स्वभाव आदि के रूप में विद्यमान 'अहं' भी विलीन हो जाता है। तब आत्म-प्रकाश अपनी पूर्ण उज्ज्वलता के साथ प्रकाशित हो उठता है। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, "जिस अवस्था में आत्मा अचेतन तथा चेतना के सामान्य स्तर से ऊपर चली जाती है उसे समाधि या अतिचेतनावस्था की संज्ञा दी गई है।"

तुम पुन: पूछ सकते हो : इस सबकी क्या उपयोगिता है? लेकिन इसके उत्तर में योगी यह कहेगा कि अपने गुरु की सहायता से वह अपनी समग्र शक्ति पर प्रभुत्व प्राप्त करने में समर्थ हुआ है। अब वह उसे किसी भी दिशा में अपनी इच्छानुसार नियोजित कर सकता है।

मन पर प्राप्त इस प्रभुत्व, इस संयम की सहायता से हम किसी भी साधन-पथ पर धीरे-धीरे अग्रसर हो सकते हैं। ध्यान की साधना से हमें प्राप्तव्य की उपलब्धि होती है। हम पर्वतारोहण कर रहे एक पथिक की भाँति जितनी दूर चाहें जा सकते हैं तथा चाहें तो प्राकृतिक सौन्दर्य से अभिभूत हो रुकने का निर्णय कर अपने साथियों को अपने बिना आगे बढ़ने दे सकते हैं। ध्यान परमात्मा का साक्षात्कार करा सकता है लेकिन यह स्वास्थ्य बनाये रखने तथा बुरी आदतों से छुटकारा पाने में भी सहायक हो सकता है। इस प्रणाली से सर्वप्रथम तनाव निवृत्ति होती है। इसके बाद एकाग्रता प्राप्त होती है जिससे

देह पर पूर्ण नियंत्रण हासिल होता है। देह के पूर्ण रूपेण तनावशून्य होने पर उसकी समस्त बाधाएँ दूर हो सकती हैं।

कुछ दिनों पूर्व मैंने रोग और उनके उपचार पर एक पुस्तक पढ़ी। उसमें लेखक ने लिखा है कि रोग, उसे जिस मात्रा में महत्त्व दिया जाता है उस मात्रा में, बढ़ता, घटता या दूर तक हो जाता है। यदि उसे कम महत्त्व दिया जाए तो प्रकृति भीतर पुनः सन्तुलन स्थापित करने हेतु सक्रिय हो उठती है जिससे स्वास्थ्य लाभ में सहायता मिलती है। इसे स्वीकार करना सम्भवतः कठिन प्रतीत हो लेकिन अनेक लोगों द्वारा इसे प्रमाणित किया गया है। लेखक निश्चित रूप से यह कहता है कि केवल रोग का ही चिन्तन करते रहने से रोग की वृद्धि होगी। उपचार में सहायता के लिए रोग को भूल जाओ। श्रीरामकृष्ण ने कहा है : "अरे मन! तुम शान्त रहो। देह और रोग को भूल जाओ।" केवल रोग का विचार करते रहने के बदले मन को दूसरी दिशा में लगाये रखना चाहिए। यदि तुम प्रतिदिन ध्यान करो तो प्रतिदिन प्रगति करोगे। प्रायः लोग कहते हैं कि वे प्रगति नहीं कर रहे हैं तथा उन्हें कोई आध्यात्मिक लाभ प्राप्त होता प्रतीत नहीं हो रहा है। यह हो सकता है, लेकिन यदि थोड़ा बहुत भी प्रयास किया गया हो तो कोई प्रगति नहीं हुई है – इसमें मैं विश्वास नहीं करता।

प्रत्येक प्रयास एक छाप छोड़ जाता है। इसके फलस्वरूप मन अथवा विचार शक्ति संयत होती है और ध्यान का उद्देश्य यही है। मन पर महान् प्रभुत्व स्थापित हो जाने पर तुम अपनी विचार शक्ति को देह के प्रत्येक अंग से हटा सकोगे। श्रीरामकृष्ण के एक अन्तरंग शिष्य स्वामी तुरीयानन्द, जिनकी एक बार शल्य क्रिया (आपरेशन) की गई थी, कहते थे, "बेहोश करने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम उसके बिना ही चीर-फाड़ कर सकते हो। उस अंग से अपने मन को हटा लेना ही मेरे लिए पर्याप्त होगा।" देह के प्रति ऐसी अनासक्ति की स्थिति उन्होंने कैसे प्राप्त की थी? सर्वप्रथम अपने विचारों को संयत करके शक्ति के अपव्यय को रोकने से और बाद में उसे नयी दिशा में परिचालित करने से।

यह विषय अत्यन्त व्यापक है। अत: साधन-पद्धति की गहराई में गये बिना मैं अन्य अनेक बातें बताना चाहता हूँ। साधन पद्धति का वर्णन बाद में किया जाएगा।

कुछ साधन पद्धतियों में लोग श्वास-प्रश्वास पर मन को एकाग्र करते हैं और यह पद्धति काफी उपयोगी सिद्ध होती है। इसी के अनुरूप योग में प्राणायाम नामक एक साधना है जिसमें श्वास-प्रश्वास का नियमन किया जाता है। हिन्दू लोग ध्यान के पूर्व प्राणायाम के अभ्यास को अनिवार्य समझते हैं। प्राणायाम मनोनिग्रह में सहायक होता है। यह प्रतिमाओं विचारों अथवा इष्ट पर मन को एकाग्र करने की तरह ही एक अधिकृत साधना-पद्धति है।

कमी कभी श्रीरामकृष्ण अत्यन्त कठिन प्रश्नों के सही सटीक उत्तरों से लोगों को आश्चर्यचकित कर देते थे। इसका समाधान करते हुए वे कहते थे : "माँ जगदम्बा ने मुझे यह कहा है।" सामान्यत: जिन प्रश्नों के उत्तर हम युक्ति द्वारा प्राप्त नहीं कर पाते, उनका उत्तर वे कैसे पा जाते थे, यह देख हम अचम्भित हो जाते हैं। मैं इसका केवल यही समाधान प्रस्तुत कर सकता हूँ कि वे चेतना के एक ऐसे स्तर पर पहुँच गये थे जहाँ उन्हें सभी उत्तर प्राप्त थे।

साधना का चरम लक्ष्य विशुद्ध चैतन्य की छायारहित ज्योति की उपलब्धि करना है। लेकिन उसकी उपलब्धि से पूर्व अनेक स्तर हैं। श्रीरामकृष्ण ने इनकी व्याख्या अन्य किसी आचार्य से अधिक अच्छी तरह की है। उनके समान विभिन्न धर्मपद्धतियों की साधना और किसी ने नहीं की और उनके जैसी विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ भी अन्य किसी को नहीं हुई थीं। इस प्रकार उच्चतम अवस्था में पहुँचकर उन्होंने जगदम्बा का साक्षात्कार किया। वे जगदम्बा की चर्चा इस प्रकार करते थे मानो वे अत्यन्त निकट हैं तथा उनकी समस्याओं को सुलझाने में उनकी सहायता कर रही हैं। परिणाम स्वरूप यही श्रीरामकृष्ण जगदम्बा बन गये थे। उन्होंने तोतापुरी के शिष्यत्व में वेदान्त की साधना की थी जिसमें विशुद्ध चैतन्य को ही एकमात्र सत्ता स्वीकार किया गया है। उसमें नाम और रूप पूरी तरह मिट जाते हैं। उस समाधि अवस्था

में श्रीरामकृष्ण सोये हुए नहीं थे, जाग्रत थे। उन्होंने उसका दर्शन किया था जो ध्यान की समस्त पद्धतियों का लक्ष्य है।

उस अवस्था को प्राप्त करने पर तुम सचमुच स्वामी बन जाओगे। मन के पूर्ण नियंत्रित होने पर तुम कई बातों को पहले से अधिक, कहीं अधिक स्पष्ट रूप से जानने लगोगे। हमारा सामान्य ज्ञान इन्द्रियगम्य जगत् विषयक होता है। वह सत्य नहीं है, यथार्थ नहीं है। जिसे हम सत्य समझते हैं वह हमारे विचारों का परिणाम, हमारे मन की सृष्टि है। मन के परिवर्तित होने पर जगत् तथा सब कुछ परिवर्तित हो जाता है। तब सभी वस्तुओं के पीछे विद्यमान सत्य का साक्षात्कार होता है। उस क्षण तुम यह कह सकते हो कि तुमने जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त कर लिया है। तुम यह जान जाते हो कि तुम कौन हो और कहाँ हो। तुम रूपान्तरित हो जाते हो।

अतः ध्यान का, जो एक मानसिक प्रक्रिया है, हमारे जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ सकता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने इष्ट तथा ध्यान-पद्धति के अनुरूप इससे लाभ उठा सकता है। ध्यान के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहने के लिए एक अधिक शान्त मन प्राप्त कर सकता है तथा समस्याओं की अधिक गहरी समझ तथा उनका समाधान प्राप्त कर सकता है।

मैं पुनः स्मरण करा दूँ कि हमें उस बहुमूल्य शक्ति को व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिए जिसकी सहायता से हम संसार में जीते हैं। हमें उसे यथासम्भव कम खर्च करना चाहिए। हमें तीव्र एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए जिससे हम अपनी विचारशक्ति पर प्रभुत्व स्थापित कर सकें तथा अपने वास्तविक स्वरूप, विशुद्ध चैतन्य की उपलब्धि कर सकें।

विभिन्न पद्धतियाँ :

मैंने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि ध्यान क्या है और उसका यथासाध्य अभ्यास करने से हमें क्या लाभ हो सकता है। दो प्रकार के लोग ध्यानाभ्यास करते हैं। कुछ लोग केवल अच्छा स्वास्थ्य, कुछ दोषों का निवारण, सांसारिक सफलता आदि भौतिक लाभ की ही कामना करते हैं।

अन्य मुख्यत: उच्चतर आध्यात्मिक स्तर की उपलब्धि करना चाहते हैं। अत: विभिन्न धर्मों में इसका अभ्यास सामान्य जीवन के स्तर से उच्चतर स्तर पर आरूढ़ होने के लिए किया जाता है। यह प्राय: बौद्धोक्त निर्वाण, आध्यात्मिक अनुभूति या ईश्वर की खोज बन जाता है। कुछ लोग देह और मन पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त कर मन को और अधिक एकाग्र करने हेतु ध्यान करते हैं ताकि वे संसार में जो कुछ करना चाहते हैं उसे श्रेष्ठतम रूप से कर सकें। अत: ध्यान द्वारा प्राप्तव्य लक्ष्य सभी के लिए एक नहीं है।

ध्यान की पूर्व तैयारी अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि कोई भी सही परिवेश का निर्माण किये बिना ध्यान नहीं कर सकता। इससे चञ्चल मन को, जो विभिन्न वैषयिक विचारों से सदा भरा रहता है, शान्त करने में सहायता मिलती है। इस विषय में सहायता के रूप में हठयोग के विभिन्न आसनों और उसके बाद तनाव निवृत्ति, प्राणायाम आदि का अभ्यास किया जा सकता है जिससे आहार, कर्म, विश्राम, निद्रा आदि विषयक व्यर्थ विचार मन से दूर हो जाएँ।

अब हम ध्यान की प्रणालियों पर आते हैं। स्वाभाविक ही ये अनेक प्रकार की हैं। हिन्दू प्रणालियाँ, बौद्ध प्रणालियाँ तथा अन्य धर्मों की प्रणालियाँ हैं। ऐसे भी साधक हैं जो किसी धर्म-विशेष के अनुयायी नहीं हैं। हमें ध्यान की ऐसी पद्धति चुननी चाहिए जो हमारी प्रकृति, भावनाओं और प्राप्तव्य लक्ष्य के अनुरूप हो।

जैसा मैंने पहले कहा है, इस साधना की महान् उपयोगिता है। यह हमारे स्वभाव में, 'अहं' और 'मैं' के हमारे सामान्य बोध में रूपांतरण ला सकती है। हम चेतना के अत्युच्च स्तर की प्राप्ति कर सकते हैं। अत: यदि कोई ईश्वरीय चेतना की उपलब्धि कर ले तो ऐसी आध्यात्मिक अनुभूति से व्यक्तित्व में महान् परिवर्तन हो जाता है। मैं इसके तीन उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ।

पहला दृष्टान्त बुद्ध का है। बुद्ध ने ईश्वर का अन्वेषण नहीं किया था अपितु वे सांसारिक कष्टों से उत्पन्न दु:खों पर विजय का उपाय जानना चाहते

थे। यह कार्य उन्होंने ईश्वर की सहायता के बिना करना चाहा और अपने उपदेशों में इसका मार्ग बताया।

दूसरा दृष्टान्त बहुजनपूजित असीसी के सन्त फ्रांसिस का है। उनके पास क्या था? सभी प्राणियों का आलिंगन करने वाले महान् प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह एक महान् परिवर्तन की स्थिति है।

आधुनिक काल में हिन्दू तथा अन्य देशों एवं धर्मों के सन्तों को भी इस प्रकार के अनुभव हुए हैं। अत: हम उन लोगों के प्रति आकर्षित होते हैं जिन्होंने अपना सर्वस्व दूसरों के लिए न्यौछावर कर दिया, चाहे उनका धर्म कुछ भी क्यों न रहा हो। उनके व्यवहार की उदात्तता और सौन्दर्य हमें प्रभावित करता है।

तात्पर्य यह कि चाहे हम ध्यान की आस्तिक पद्धति का पालन करें या नास्तिक पद्धति का, हमारे ध्यान का एक निश्चित लक्ष्य या आदर्श होना चाहिए। यह कैसे प्राप्त करें? देह की क्षमताएँ सीमित हैं जबकि आत्मा अत्यन्त शक्तिशाली है। अपने विचारों को संयत करना अत्यन्त कठिन भले ही हो, तो भी मन अत्यन्त उदात्त अवस्था-प्राप्ति में साधन बन सकता है। यहाँ तक कि अन्तत: असीम अनन्त चैतन्यावस्था की प्राप्ति अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभूति की जा सकती है। हिन्दुओं के सबसे पुरातन शास्त्र वेदों में ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्मविद् कहा गया है। वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।" यह असम्भव प्रतीत होता है। ब्रह्म तो अनन्त है। अत: जो ब्रह्म को जानता है उसे अवश्य अनन्त होना होगा। अवश्य यह बात शारीरिक दृष्टि से नहीं कही गई है। स्थूल दृष्टि से वह अनन्त नहीं हो सकता। लेकिन सामान्यत: देह, विचारों और व्यक्तित्व की उपाधियुक्त अपनी आत्मा इन समस्त सीमाओं को लाँघकर अनन्त को पहुँच जाती है। अनन्त की प्राप्ति ही लक्ष्य है।

एक तीसरे प्रकार के सन्त भी होते हैं जो भगवान् को चाहते हैं। जैसे श्रीरामकृष्ण, जो जगदम्बा की पूजा करते थे, तथा इसी प्रकार ईसा, कृष्ण अथवा अन्य सन्त महापुरुषों के उपासकगण। वे प्राय: अपने इष्ट के स्थूल रूप का आश्रय लेते हैं। इन पद्धतियों में अपने मन को सर्वाधिक अनुकूल

पथ पर परिचालित किया जाता है। ईश्वर अनन्त है अत: उसका यथार्थत: पूर्ण ध्यान कर सकना कठिन है। मन अनन्त का ध्यान करने में असमर्थ है। वह केवल एक चित्र, विचार अथवा गुण जैसी किसी ससीम वस्तु का ही ध्यान कर सकता है। अत: सभी साधना पद्धतियों में किसी न किसी प्रकार का एक व्यावहारिक आदर्श होता है। लेकिन कुछ लोग रूप का आश्रय नहीं लेना चाहते। वे कहते हैं कि वे किसी रूप पर मन एकाग्र नहीं कर सकते, उसकी कल्पना नहीं कर सकते। मुझे इस पर सदा आश्चर्य होता है, क्योंकि मुझे रूप का उपयोग पूर्णरूपेण स्वाभाविक प्रतीत होता है। किसी रूप की कल्पना करना बहुत आसान है। इस साधना में कल्पना शक्ति बड़ी उपयोगी सिद्ध होती है। जो हो तुम्हें अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार साधना पद्धति का चयन करना चाहिए। कुछ लोग ध्वनि पर मन एकाग्र करते हैं। वे घण्टे के निनादों पर ध्यान करते हैं। मित्रों ने मुझे कहा है कि संगीत उनके ध्यान में सहायक होता है। अन्य कलात्मक कृतियाँ एकाग्रता में सहायक हो सकती हैं। हिन्दू धर्म में जपमाला की सहायता से मंत्र का जप या प्रार्थना स्तोत्रादि की आवृत्ति का विधान है। तिब्बती संन्यासियों की तरह मुसलमान और ईसाई सन्त भी जपमाला का उपयोग करते हैं। तात्पर्य यह कि भगवान् के पवित्र नाम का जप आध्यात्मिक ध्यान की एक पद्धति के रूप में मान्य है।

एक मार्ग-विशेष के अनुसरण का निर्णय करने के बाद उस पथ पर अग्रसर होओ और उसे मत छोड़ो। ध्यान में यथासम्भव गहरे डूबने का प्रयत्न करो। मुख्य प्रश्न यह है : क्या लक्ष्य विशेष के प्रति तुममें महान् व्याकुलता है? यदि गुरु द्वारा निर्दिष्ट होने तथा ध्यान की पद्धति बताये जाने पर भी तुम ठीक से ध्यान न कर सको तो दोष तुम्हारे मन का ही है। यदि तुम लक्ष्य का ठीक से निर्धारण न करो तथा उसके प्रति तुम में तीव्र आकर्षण न हो तो तुम्हारा मन ही तुम्हारा शत्रु बन जाएगा। ऐसी स्थिति में कुछ क्षणों बाद मन भटकने लगता है।

अच्छे ध्यान की प्रथम शर्त यह जानना है कि तुम्हारी तीव्र रुचि किस

में है। एकाग्रता के लिए बहुत उच्च आदर्श की आवश्यकता नहीं है। तुम किसी सामान्य व्यक्ति को ही चुन सकते हो। इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्ण एक कहानी कहते हैं : एक गाँव में एक सरल किसान रहता था। उसका एक खेत था तथा कुछ जानवर थे जिनमें एक भेड़ भी थी। एक दिन उसने एक सन्त से धर्मोपदेश सुना। वह उस ओर आकर्षित हुआ किन्तु उससे ध्यान करते न बना। वह सन्त के पास लौट कर आया और बोला कि वह ध्यान करने में असमर्थ है। साधु ने पूछा, "क्या बाधा है?" उसने उत्तर दिया, "ओह, मेरी एक अत्यन्त प्यारी भेड़ है और मैं सदा उसी के बारे में सोचा करता हूँ।" साधु ने कहा, "ठीक है, अपनी प्यारी भेड़ पर मन को एकाग्र करो। भेड़ में भी परमात्मज्योति विद्यमान है।" भगवान् पर मन को एकाग्र करना सर्वदा आसान नहीं होता किन्तु किसी पशु अथवा अपने प्रेम के किसी पात्र का ध्यान करने से भी चेतना के अति उच्च स्तर की प्राप्ति हो सकती है।

श्रीरामकृष्ण उन लोगों को, जो अपने बच्चों, पति अथवा पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्त थे, उन प्रिय व्यक्तियों में परमात्मा की सत्ता की अनुभूति करने की सलाह देते थे। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि स्थूल शरीरधारी व्यक्ति आकर्षक नहीं होता बल्कि उस व्यक्ति के भीतर विद्यमान आत्मा हमें आकृष्ट करती है। वह परमात्मा (ही) सारा आनन्द प्रदान करता है। किसी के प्रति प्रेम तथा उस प्रेम से उत्पन्न आनन्द ईश्वर नामक मूल स्रोत से आता है।

अतः यदि तुम किसी देवता पर मन को एकाग्र न कर सको तो तुम्हें जो प्रिय लगे उस पर मन को लगाओ और अपने को सतत् स्मरण दिलाते रहो कि वह परमात्मा का प्रतीक है तथा तुम्हारे लिए उस रूप में प्रकट हुआ है। ऐसा करने से ध्यान आसान हो जाएगा। अवश्य बुद्ध, ईसा, रामकृष्ण, स्वयं के गुरु अथवा अन्य विख्यात महान् सन्त आदि का ध्यान करना श्रेष्ठतम है, क्योंकि उनके व्यक्तित्व की अनेक बातें सदैव हमारे लिए बहुत प्रेरक होती हैं। इन महान् विभूतियों का थोड़ा-बहुत चिन्तन भी हमें बहुत से व्यर्थ

और क्षणिक विचारों से मुक्ति प्रदान करता है। स्वामी ब्रह्मानन्द के जिन उपदेशों को हम प्राय: पढ़ते हैं उनमें इष्ट का उल्लेख है। इस संस्कृत शब्द इष्ट का अर्थ है, हमारा प्रियतम। अत: इष्ट का चिन्तन हमें सदा आनन्द प्रदान करेगा। तब ध्यान अधिक गहरा और आसान हो जाएगा।

मैंने तुमसे रूप की चर्चा की है। अब मैं मंत्र अथवा भगवन्नाम की चर्चा करूँगा। स्वाभाविक ही प्रत्येक मंत्र के साथ एक दैवी महापुरुष जुड़ा रहता है। हमें यह दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि मंत्र का जप हमारी आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्ति का श्रेष्ठतम उपाय है। अतएव हिन्दू, बौद्ध, ईसाई मंत्र हैं। मंत्रों का जप अथवा देवता का आव्हान सम्भवत: कुछ धर्मों से विलुप्त भले ही हो गया हो किन्तु फिर भी अन्य धर्मों में बचा हुआ है। ध्यान अथवा जप की साधना भारत में सर्वत्र की जाती है। सभी सम्प्रदायों में मंत्रजप होता है।

यदि हमें रूप अथवा नाम, किसी में भी रुचि न हो तो क्या करें? मैं सार्वभौमिक ध्यान के विषय में कुछ बताने का प्रयत्न करूँगा। इसमें किसी धार्मिक आस्था को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। यह एक पद्धति मात्र है। पर साथ ही यह ईश्वर में विश्वास करने वाले अथवा जो जप करते हैं अथवा रूप का आश्रय लेते हैं, उनके लिए भी अनुकूल हो सकती है।

तुम अब तक समझ ही गये होगे की ध्यान की स्थिति एकाग्रता के अभ्यास से प्राप्त होती है। एकाग्रता तीव्र होनी चाहिए, इतनी तीव्र कि हम स्वयं को पूरी तरह भूल जाएँ। यह एक ही दिशा में विचारप्रवाह अथवा प्रेम के उदात्तीकरण से प्राप्त हो सकती है। ईसामसीह सरल भाषा में बोलते थे और सर्वत्र ईसा को प्रेम का मसीहा माना जाता है। प्रेम का सन्देश सर्वोच्च माना जाता है। अत: ईसा ने हमें प्रेम पर ध्यान करने का उपदेश दिया है। ईश्वर को अपने समग्र प्राण, मन और हृदय से प्रेम करो।

अच्छा ध्यान करने के लिए मन पर महान प्रभुत्व होना चाहिए। प्राणायाम इसमें बहुत सहायक हो सकता है। इसीलिए हिन्दू लोग जप से पहले प्राणायाम करते हैं। यह एक बहुत आसान प्रक्रिया है। अत्यन्त धीरे-धीरे श्वास-प्रश्वास लिए जाते हैं। शुरू में दस सेकण्ड में श्वास भीतर खींचा

जाता है और दस सेकण्ड में बाहर निकाला जाता है। इसके लिए श्वास खींचने से पूर्व एक नासिकारन्ध्र को और बाद में दूसरे नासिकारन्ध्र को बन्द किया जाता है। बाद में तुम तीन या चार मिनट तक ऐसा कर सकोगे। प्राणायाम का अभ्यास किसी गुरु के निर्देशन में करना चाहिए अन्यथा वह हानिकारक हो सकता है।

यह अच्छे ध्यान की प्रथम प्रारम्भिक तैयारी है और यह उस पद्धति के लिए भी उपयोगी है जिसे मैंने सार्वभौमिक ध्यान कहा है। श्वास-प्रश्वास का नियमन प्रयत्नपूर्वक, ध्यानपूर्वक करना चाहिए। पूरा मन श्वास-प्रश्वास पर लगा होना चाहिए। ऐसा करने से तुम और किसी का चिन्तन नहीं करोगे।

निम्नोक्त प्रक्रिया कुछ अधिक कठिन है। अपने विचारों के द्रष्टा बनो। प्रारम्भ में तुम्हें निश्चित ही कठिनाई होगी पर शनैः शनैः तुम स्वयं को अपने विचारों से अलग कर सकोगे। उदाहरण के लिए, तुम सफलता और असफलता के प्रति तथा तुम्हें कही गई अप्रिय अथवा प्रिय बात के प्रति निर्लिप्त बने रह सकोगे। तब तुम अपने विचारों के भावनारहित निष्पक्ष साक्षी बन जाओगे। तुम्हें यह बोध होगा कि तुम स्वयं और तुम्हारे विचार परस्पर भिन्न हैं। यह बोध आवश्यक है।

इस सन्दर्भ में सम्भवतः एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है : शान्ति और विश्राम का अनुभव करो। आन्तरिक शान्ति प्राप्त करने के लिए बहुत गहरा ध्यान आवश्यक है। तब कोई विचार, कोई इन्द्रियजन्य संवेदन मन में प्रकट नहीं होता। कुछ समय तक शान्ति की अवस्था का चिन्तन करो; किसी भी व्यक्ति अथवा विचार से अनासक्त उस मुक्ति के भाव को कुछ समय तक बनाये रखो। इससे महान् आन्तरिक परिवर्तन उपस्थित होगा। हिन्दू लोग प्रायः ईश्वर की चर्चा नहीं करते। वे परम सत्ता या ब्रह्म की चर्चा करते है। चरम सत्य अनन्त सच्चिदानन्द है।

हमारा वास्तविक स्वरूप अनन्त आनन्द और सुख के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हमें केवल उसके प्रति सजग होना है। विचारों के कारण ही सारी कठिनाई होती है, भले ही उनसे हमारी वास्तविक "आत्मा" प्रभावित

न होती हो।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है ईश्वर, या तुम कहना चाहो तो, अनन्त के प्रति पूर्ण शरणागति। किसी भी साधना पद्धति का चयन कर हम अपनी सीमित चेतना को पार कर उस उच्चतर स्तर को प्राप्त कर सकते हैं, जहाँ आत्म-चैतन्य परमात्म-चैतन्य में विलीन हो जाता है। इसका अर्थ है रूपान्तरण। उस क्षण केवल 'हम' रहता है। चेतना की इस व्यापकता में 'मैं' सबके साथ, अनन्त के साथ एकरूप हो जाता है। देह बोध नहीं बचा रहता। यह 'मैं', 'विराट् मैं' हो जाता है।

इस अवस्था पर पहुँचने के बाद न पुनर्जन्म होता है और न मृत्यु। केवल देह की मृत्यु होती है। बुद्ध का कथन है, "जो निर्मित हुआ है उसका कुछ समय बाद क्षय अवश्य होगा।" लेकिन मेरी वास्तविक आत्मा, 'विराट्-आत्मा' होने के कारण सदा विद्यमान रहती है तथा उच्चतम स्तर पर सबके साथ संयुक्त रहती है। "अहं ब्रह्मास्मि" – मैं ब्रह्म हूँ, वेदान्ती इस महावाक्य पर ध्यान करते हैं।

विभिन्न मार्गों का तथा सार्वभौमिक ध्यान की पद्धति का भी सदा एक ही लक्ष्य रहता है। देह, मन और भावनाओं पर नियंत्रण प्राप्त करने से व्यक्तिगत चेतना उच्चतर बोध को अर्थात् सभी प्राणियों के साथ एकत्व को प्राप्त करती है। ऐसा करने से अहं का नाश नहीं होता। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को मत भूलो। अपने अहं को देह, मन और व्यक्तित्व द्वारा प्रभावित उसकी संकीर्ण अवस्था से विस्तारित करना आवश्यक है। ईसा मसीह, बुद्ध अथवा असीसी के संत फ्रांसिस जैसे महान् आचार्यों का यह माधुर्य है। इन उच्च आध्यात्मिक अवस्थाओं को प्राप्त महापुरुषों के लिए, जिन्होंने उस एकत्व का अनुभव किया है, दुःखद अनुभव, दैनन्दिन जीवन के कष्ट उस क्षण के बाद महत्त्व नहीं रखते क्योंकि उनकी वास्तविक आत्मा उन सांसारिक अनुभवों से परे होती है।

ध्यान की तैयारी के लिए शुभ विचारों को उठाने की आदत बनाई जा सकती है। इन प्रारम्भिक पद्धतियों में भी एक प्रकार की एकाग्रता, सीमित

चेतना को उच्चतर स्तर पर उठाने का सतत् प्रयास रहता है।

गहरे ध्यान से हमारी सामान्य चेतना का रूपान्तरण होता है और साथ ही आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त होती है। उसके बाद हम वस्तुओं और व्यक्तिओं को पहले की तरह नहीं देखते। समग्र जगत् के प्रति वह नयी दृष्टि प्राप्त करना ही आदर्श है। सभी वस्तुओं तथा सभी व्यक्तिओं के साथ एकत्व का अनुभव करना – यही लक्ष्य होना चाहिए।

ग्रेट्ज के रामकृष्ण मिशन के केन्द्र में भोजन के पूर्व माँ सारदा के इन शब्दों को दोहराया जाता है : "संसार में तुम्हारा कोई पराया नहीं है। सभी अपने हैं। तुम संसार के साथ एक हो।" ये विचार क्षणिक न रहकर हम सभी के लिए यथार्थ सत्य होने चाहिए। हमें इसका गहरा अनुभव होना चाहिए। सन्तों ने अपने जीवन के दृष्टान्त द्वारा यह प्रदर्शित किया है कि यह सिद्धान्त मात्र नहीं है बल्कि निष्ठापूर्वक प्रयत्न करने वाला प्रत्येक व्यक्ति इसका अनुभव कर सकता है। इस नये दृष्टिकोण से दूसरों के प्रति हमारा व्यवहार परिवर्तित हो जाता है तथा दैनंदिन जीवन की समस्याएँ सुलझ जाती हैं।

ओम्। असतो मा सद्गमय।।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।।
मृत्योर्मा अमृतं गमय।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

□□□

(९)

ध्यान का विज्ञान

स्वामी भव्यानन्द

यह स्वाभाविक है कि निष्ठापूर्वक लम्बे समय तक ध्यानाभ्यास करने वाले लोग अपनी प्रगति का अंकन करना चाहेंगे। सिंहावलोकन करने पर बहुतों को यह लगता है कि बहुत वर्षों तक अभ्यास करने पर भी वे लक्ष्य की ओर अधिक नहीं बढ़ पाये हैं। और स्वाभाविक ही वे निराश हो जाते हैं। वे पूछते हैं, "मैंने अधिक प्रगति क्यों नहीं की? क्या मैं सही मार्ग का अनुसरण कर रहा था?" वस्तुस्थिति का निष्पक्ष विश्लेषण न कर पाने के कारण कुछ लोग यह कह कर कि, "मैं ध्यान का अधिकारी नहीं हूँ, वह मेरे लिए नहीं है", आध्यात्मिक साधना का त्याग कर देते हैं।

यह कोई असाधारण परिस्थिति नहीं है। अत: प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं से पूछना चाहिए, "मैंने गलती कहाँ की?" हमारे आध्यात्मिक जीवन की प्रारम्भिक तैयारी में कुछ बारीक गलतियाँ हो सकती हैं। सम्भवत: हम, "मैं दूसरों से अधिक आध्यात्मिक हूँ", इस तरह की भावना जैसी कुछ भ्रान्तियों से ग्रसित हों अथवा सम्भवत: कोई दीर्घकालीन गहरी आदत या प्रवृत्ति, जिसे हम सोचते हों कि हमने पूरी तरह जीत लिया है, अभी भी विद्यमान् हो। बद्धमूल प्रवृत्तियों को दूर करना कठिन होता है। वे झाड़-झंखाड़ की तरह होती हैं। अगर बगीचे की कुछ दिनों तक देखभाल न करो तो वे अपने आप उग आते हैं। उनको उगाना नहीं पड़ता।

लेकिन हमें निराश नहीं होना चाहिए। हमें शान्तिपूर्वक विषय पर विचार

करना चाहिए और जहाँ कहीं भी प्रमाद उपस्थित हो, उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। आध्यात्मिक साधना भी एक प्राणहीन ढर्रे में परिणत हो सकती है। "मैंने कुछ प्रगति की है और अब मैं पूर्ण सुरक्षित हूँ। मैंने महापुरुषों के भवन में प्रवेश कर लिया है और अब विश्राम कर सकता हूँ" – ऐसा सोचना बहुत आसान है। सावधान! शैतान इसी क्षण की प्रतीक्षा में रहता है। वे सारे गहरे संस्कार अभी भी विद्यमान् हैं। उनकी उपस्थिति के प्रति सजग होकर सावधानीपूर्वक आचरण करना चाहिए।

एक बार परिस्थिति को हृदयंगम करके समस्याओं को दूर करने के प्रयास के लिए हमें तत्पर हो जाना चाहिए। हम जैसे अधिकांश सामान्य श्रेणी के साधकों के लिए बाधाएँ वस्तुतः बहुत बड़ी नहीं हैं। लेकिन महापुरुषों की बाधाएँ कहीं अधिक बड़ी होती हैं। ईसा मसीह को दिया गया शैतान का प्रलोभन तथा बुद्ध के समक्ष उपस्थित होने वाला प्रलोभन सचमुच बहुत विराट् थे। हमारे लिए ऐसे बड़े प्रलोभनों की आवश्यकता नहीं है। छोटे-मोटे प्रलोभन ही हमें पथभ्रष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। बाधाएँ भले ही बड़ी न हों पर उन्हें पहचानना तथा उनका सामना करने की विधि जानना हमारे लिए आवश्यक है।

इन समस्याओं के समाधान के सबसे सक्षम उपायों में से एक अपने इष्ट के प्रति समर्पण तथा उनकी सहायता की याचना करना है। साधना में लगे लोग सामान्यतः श्रद्धालु होते हैं, अतः उनके लिए भगवान् को पकड़े रहना तथा उन पर निर्भर रहना बहुत सहायक होता है। और एक बार भगवान् की शरण लेने के बाद हमें अपनी साधना तथा कर्तव्यों का पालन यथासाध्य करते जाना चाहिए। सारांश यह कि हमें भगवत्-स्मरण, ध्यान और भगवन्नाम के जप के नियम का यथावत पालन करते रहना चाहिए। ऐसा करने पर हम सभी बाधाओं को पार कर सकते हैं तथा अपने अन्तर से ही आवश्यक मार्गदर्शन प्राप्त कर सकते हैं।

अतः यदि हम किसी साधना-पद्धति का अनुसरण कर रहे हों तो हमें अपने आप के प्रति ईमानदार होना चाहिए तथा मन ही मन अपनी दुर्बलताओं

और अपने सबल पक्षों का अंकन करना चाहिए। वस्तुत: केवल अपने सबल पक्षों का अंकन और दुर्बलताओं की उपेक्षा करने के प्रलोभन से बचना भी आवश्यक है। पर सत्य तो यह है कि चूँकि दुर्बलताएँ भी हैं, और एक साँकल उतनी ही मजबूत होती है जितनी उसकी दुर्बलतम कड़ी। अत: यदि हममें कोई बुरी आदतें हों तो हमें उसकी जानकारी होनी चाहिए तथा उसे दूर करने का उपाय करना चाहिए। हममें से कई लोग आध्यात्मिक प्रगति में बाधक अपनी दुर्बलताओं को पहचान नहीं पाते।

भारतीय साधन परम्परा में आन्तरिक शत्रुओं का उल्लेख है। इनमें काम, क्रोध, लोभ, अहंकार और ईर्ष्या मुख्य हैं। ये सब बाहर नहीं हैं; हमारे अन्दर ही हैं। हमें प्रमाद पर भी नज़र रखना चाहिए क्योंकि अपनी दुर्बलता के लिए सफाई देना बड़ा आसान है। इसके बाद है, संशय। जब किसी वस्तु की प्राप्ति कठिन होती है तो हम उसकी प्राप्ति की सम्भावना में शंका करने लगते हैं।

कभी-कभी हममें उत्साह का अभाव हो जाता है। उत्साह एक अतिरिक्त दाहिने हाथ के समान है। अत: जब उत्साह की कमी होती है तब छोटे-मोटे काम भी कठिन लगने लगते हैं। इन्द्रियविषयों के प्रति आसक्ति भी अतिसूक्ष्म बाधा है। हममें से अधिकांश लोग इन्हें महत्त्व नहीं देते और अपने आपसे यही कहते हैं कि ये आदतें हानिकारक नहीं हैं। इन्हें मामूली और निरापद आदतें मानते हैं। लेकिन बहुत सी तथाकथित निरापद आदतें मिलकर काफी हानि पहुँचा सकती हैं।

ध्यान की साधना में प्राणायाम बहुत महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि यदि हम एक स्थिर और सुखकर आसन में बैठ न सकें और श्वास-प्रश्वास को नियमित न बना सकें तो हमें तनावशून्यता का अनुभव नहीं होगा और यह एक निश्चित बाधा बन जाएगी। कई पुस्तकों में प्राणायाम का अनुवाद श्वास-प्रश्वास किया गया है। यह ठीक नहीं है। क्योंकि श्वास-प्रश्वास देह में प्राण की विद्यमानता का द्योतक मात्र है। प्राण को जीवनीशक्ति और प्राणायाम को देहस्थित जीवनी शक्तियों का नियमन कहना अधिक उपयुक्त होगा। क्रुद्ध

होने पर हमारी श्वास चञ्चल हो उठती है क्योंकि प्राणशक्ति विचलित हो जाती है। इसके विपरीत जब हम शान्त होते हैं तो हमारी श्वास-प्रश्वास भी सम होती है। अत: साँस के विधिपूर्वक नियमन का अभ्यास आवश्यक है जिससे हमारे भीतर का प्राणतत्त्व शान्त और तनावशून्य हो जावे। अत: श्वास-प्रश्वास की कुछ क्रियाएँ हमारे ध्यान में निस्सन्देह सहायक हो सकती हैं।

हमारे सामान्य दैनन्दिन जीवन की कुछ बातों पर भी ध्यान देना चाहिए। उदाहरण के लिए पूर्वग्रह, असहिष्णुता, जिद्दीभाव, हठधर्मिता तथा कुसंग भले ही सामान्य समस्याएँ प्रतीत हों लेकिन वस्तुतः इनकी जड़े बहुत गहरी होती हैं। सज्जनों का संग तथा उनके साथ जुड़े सद्गुण आध्यात्मिक जीवन में बहुत सहायक सिद्ध होते हैं। उनके साथ संग करने से हममें संसार के प्रति अनासक्ति पैदा होती है तथा अधिक तटस्थ दृष्टि प्राप्त होती है। साथ ही सत्संग में शुभ और कल्याणकर विचार उठते हैं जो हमें सही दिशा में परिचालित करने में सहायक होते हैं। यह अनुभव करना आवश्यक है कि जब हम सही मार्ग पा जाएँ तो हमें उसके अनुसरण का यथासम्भव प्रयत्न करना चाहिए। उदाहरणार्थ मोटरकार चलाते समय हमारी प्रगति मार्ग संकेतों का अनुसरण करने पर निर्भर करती है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन में भी हमें सज्जनों का सत्संग खोजना चाहिए जो हमारे चरम लक्ष्य की दिशा में संकेत चिन्हों का काम कर सकें।

नाम-यश की आकांक्षा एक अत्यन्त सूक्ष्म प्रलोभन है। उदाहरण के लिए यदि हमें किसी विषय-विशेष का विशिष्ट ज्ञान हो तो हम अहंकारी हो जाते हैं और यह अनिवार्य रूप से दूसरों के प्रति हमारे व्यवहार में प्रकट होता है। वार्तालाप के दौरान दिखावा करना अत्यन्त आसान है। लेकिन जब दूसरे हमारी उपलब्धियों को स्वीकार नहीं करते अथवा उनकी प्रशंसा नहीं करते तो हमें बुरा लगता है, क्योंकि हमारे अहंकार को इससे ठेस लगती है। यह भी एक खतरा है जिसके प्रति हमें सावधान रहना चाहिए। हमें थोड़ा विनम्रता का अभ्यास करना चाहिए तथा दूसरों के प्रति अपने

दैनन्दिन सम्बन्ध में प्रेम की अभिव्यक्ति करना सीखना चाहिए। यह बहुत उपयोगी है तथा हमारे चरित्र निर्माण में निश्चित रूप से सहायक होगा।

अत: हम देखते हैं कि हमारे व्यक्तित्व का निर्माण हमारे विचारों से होता है। विचारों का क्षेत्र आन्तरिक गतिविधि का क्षेत्र है तथा हमारे चरित्र निर्माण का आधार है। "एक विचार बोओ एक कार्य उगाओ; एक कार्य बोओ, आदत बनाओ; आदत बोओ, चरित्र निर्मित होगा; चरित्र बोओ, भविष्य बनाओ।" जब (कुछ) अशुभ घटता है तो हम कहते हैं, "ओह। यह मेरे भाग्य के कारण है।" लेकिन वस्तुत: यह हमारी आदतों का परिणाम है। एक बार आदत बन जाने पर उन्हें मिटाना कठिन होता है, इसलिए हमें प्रारम्भ से ही अच्छी आदतें डालने की सावधानी बरतनी चाहिए। अन्ततोगत्वा हमारे विचारों के अनुरूप ही हमारा गठन होता है।

प्रतिदिन किसी सद्ग्रन्थ से कुछ पृष्ठों का पाठ करने की आदत बना लेना भी आध्यात्मिक जीवन में बड़ा लाभकर है। सद्ग्रन्थ का अध्ययन यदि ठीक से किया जाए तो यह सचमुच एक आध्यात्मिक साधना बन जाएगा। हमें अपने आप से पूछना चाहिए, "क्या हम मुद्रित शब्दों में निहित उपदेश को आत्मसात करने के लिए पर्याप्त एकाग्रता से पढ़ रहे हैं?" यदि हाँ, तो उससे हममें कुछ परिवर्तन आना चाहिए। लेकिन ऐसे परिवर्तन के लिए हमें अपने अध्ययन की सामग्री का बड़ी सावधानी से चयन करना चाहिए। हमें ऐसी पुस्तकों का चयन करना चाहिए जो हमें चरित्र निर्माण में तथा व्यक्तिगत जीवन में भी सहायता और प्रेरणा प्रदान करें। प्रतिदिन प्रात: और सायंकाल ऐसी किसी पुस्तक के पृष्ठों को पढ़ने की आदत बना लेनी चाहिए। यह सम्भव है कि कभी हमारा मूड या मनोभाव ऐसा करने का न हो पर फिर भी हमें इस कारण अपना नियम भंग नहीं करना चाहिए; उसे बनाए रखना चाहिए।

भक्ति-संगीत सुनना भी उपयोगी है। एक बार मैं भारत में एक जिला-अधिकारी का अतिथि था जो पहाड़ी इलाके में एक बड़े बंगले में रहते थे। वहाँ भोर में घर के सभी भागों में भक्ति-संगीत सुनाई देता था। उन्होंने

मुझे बताया कि जिलाधिकारी होने के कारण दिनभर कार्य में व्यस्ततावश भगवत् स्मरण कठिन होता है। उनके गुरु ने उन्हें दिन का प्रारम्भ प्रार्थना के साथ करने को कहा है। तदनुसार उन्होंने सभी कमरों में लाउडस्पीकर स्थापित कर दिए है और इस प्रकार वे भगवान् का नाम सुन पाते हैं।

हमें खुले मन से सभी बातों पर विचार करना चाहिए ताकि हम दूसरों का दृष्टिकोण समझ सकें और उसका आदर कर सकें। इस प्रकार हम स्वयं को शुभ प्रभावों के प्रति उन्मुक्त रख सकेंगे। यदि हमसे कोई गलती हो तो मानव स्वभाव की दुर्बलता समझ कर उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। हम अपनी गलतियों से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं जिससे हम उसे न दुहराएँ।

जीवन की आध्यात्मिक रूपरेखा में किसी भी प्रकार के मतभेद या विवाद को स्थान नहीं देना चाहिए, क्योंकि इससे अशान्ति होती है। तर्क-वितर्क दो प्रकार के होते हैं। एक, जो स्पष्टीकरण तथा विषयवस्तु को हृदयंगम करने के लिए किये जाएँ। दूसरे वे जो अपने मत के दंभयुक्त प्रदर्शन के लिए हों। साधक को व्यर्थ के वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहिए। हमारा मत भले ही सत्य हो पर किसी व्यक्ति को युक्ति द्वारा निश्चय कराना कठिन हो तो हम क्या करें? ऐसे में समझदारी तो यही है कि तर्क-वितर्क में न पड़ा जाए क्योंकि इससे एक प्रकार का मानसिक विक्षोभ होता है। वस्तुविषय समझने के लिए विचार-विमर्श तथा प्रश्न पूछना उचित है लेकिन केवल अपने विचारों को व्यक्त करने के प्रयत्न से केवल मनोमालिन्य ही होता है।

विश्वास आध्यात्मिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। लेकिन विश्वास का अर्थ शंका समाधान के बिना किसी बात को स्वीकार करना नहीं है। वस्तुतः हमें तीन अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है : शंका, प्रश्न या जिज्ञासा और उसका समाधान और स्वीकृति। उदाहरण के लिए हमें कोई बात कही जाए और कहा जाए कि उसे समझो या न समझो, बिना शंका किये स्वीकार कर लो तो हमारी तत्काल प्रतिक्रिया होगी, "मुझे ऐसा कहा गया है लेकिन इसमें मुझे कोई अर्थ नहीं लगता।" और हम उसे स्वीकार करने में हिचकिचाएँगे। लेकिन यदि हम उनके अर्थ को जानने के लिए अन्वेषण करें,

उसको समझें और तब स्वीकार करें तो यह विश्वास सच्चा विश्वास होगा। शास्त्रों के उपदेशों तथा गुरु के वाक्यों का विश्लेषण कर उन्हें हृदयंगम करना तथा उनमें निहित सत्य को खोज निकालना हम पर निर्भर करता है। भले ही प्रारम्भिक अवस्थाओं में हमें शास्त्रों का केवल बौद्धिक ज्ञान ही हो, हमारी श्रद्धा की दृढ़ता, उनमें निहित सत्य के साक्षात्कार पर निर्भर करती है। एक बार उसकी प्राप्ति होने के बाद हमें वास्तविक स्थिरता प्राप्त होती है, और तब हम विचलित नहीं होंगे। अगर कोई विरोध और तर्क करके हमारी बौद्धिक मान्यता को डिगाना चाहे तो उससे कोई हानि नहीं होगी। अगर हमारा विश्वास गहरा हो तो चिन्ता की कोई बात नहीं है और हम यह कह सकते हैं, "मैं जानता हूँ, यह सत्य है।" अनावश्यक तर्कों से हमारा कोई सरोकार नहीं होना चाहिए और इसीलिए हमारी श्रद्धा प्रश्नोत्तर की दृढ़ नींव पर निर्मित होनी चाहिए। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जिज्ञासा का अर्थ असम्बद्ध प्रश्न करना नहीं है।

एक बार नरेन्द्र ने, उस जिज्ञासु अनुधिस्तु युवक नरेन्द्र ने, श्रीरामकृष्ण से प्रश्न किया था, "यदि आप सचमुच सत्य के ज्ञाता हैं तो क्या आप उसका प्रमाण देंगे?" एक अन्य अवसर पर श्रीरामकृष्ण ने अपनी एक अनुभूति उसे बताई तो नरेन्द्र ने उसपर अविश्वास प्रकट किया; इस पर श्रीरामकृष्ण ने जगदम्बा से प्रार्थना की, "नरेन्द्र कहता है कि मुझमें थोड़ा सा पागलपन है। क्या मेरा यह दर्शन कल्पना मात्र है?" इसके बाद वे लौटकर नरेन्द्र के पास आये और कहा, "माँ जगदम्बा ने मुझे चिन्ता न करने को कहा है। मैं तेरी बात पर विश्वास नहीं करता।" यह जगदम्बा की सत्ता में उनके विश्वास का सटीक दृष्टान्त है। उनके लिए जगदम्बा का कथन अन्तिम था। लेकिन उस सत्य में प्रतिष्ठित होने के लिए श्रीरामकृष्ण को समय लगा था। बहुत से आगन्तुक अत्यन्त बुद्धिमान थे और वे लोग प्रायः ऐसी बातें कहा करते थे जिनसे उनके मन में संशय पैदा होता था। उन्होंने औपचारिक शिक्षा प्राप्त नहीं की थी तथा उन्हें किताबी ज्ञान नहीं था। लेकिन जगदम्बा से प्रार्थना करना उनके लिए पर्याप्त था। ऐसे विश्वास को डिगाना

किसी के लिए सम्भव हो ही नहीं सकता और यदि हम अपने आध्यात्मिक जीवन में उसके कुछ अंश का भी समावेश कर सकें तो हमारी अधिकांश बाधाएँ दूर हो जाएँगी।

अत्यधिक किताबी ज्ञान या शास्त्रीय ज्ञान भी एक और बाधा है। हम जानकारी प्राप्त करते हैं और नाना वस्तुओं का इतना ज्ञान अर्जित कर लेते हैं कि हमारी तात्कालिक आवश्यकता ही छिप जाती है। लेकिन परा विद्या या वास्तविक ज्ञान से ही अमरत्व प्राप्त हो सकता है, अपरा विद्या से नहीं। अविद्या और अपरा विद्या का अतिक्रमण करने पर ही चरम सत्य की प्राप्ति होती है। अगर हम उसकी प्राप्ति न कर पाएँ तो अन्य सब का मूल्य बहुत कम है। इस तथाकथित शिक्षित प्रबुद्ध समाज के लोग दैनन्दिन जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी जानकारी इकट्ठा करने में व्यस्त रहते हैं। लेकिन यह बाहरी ज्ञान है। कुछ विचारों को पुस्तकों से सीख लेना तथा दूसरों को समझाना पर्याप्त नहीं है। इससे कुछ सन्तोष और सुख भले ही प्राप्त हो पर उससे जीवन में गहराई नहीं आती। सत्य का चरम ज्ञान इससे कहीं अधिक है। कोरी जानकारी एकत्र करना बोझ बन सकता है। यह मानो एक गधे द्वारा बहुत सा बोझ ढोने के समान है, जो उसका मूल्य नहीं जानता। हमारा अधिकांश पुस्तकी ज्ञान व्यर्थ के तर्कों के लिए उपयोगी जड़ बोझा बन सकता है और जैसा हमने देखा, यह हानिकारक हो सकता है। समस्त ज्ञान के उत्स परमात्मा का ध्यान, नियमित रूप से प्रतिदिन किया गया मनन और निदिध्यासन, तथा आध्यात्मिक साधना, पुस्तकी ज्ञान से कहीं अधिक श्रेष्ठतर अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं। हमारे दैनन्दिन जीवन का अधिकांश समय हमारे कार्यक्षेत्र में व्यतीत होता है। लेकिन वहाँ भी हमें अपने जीवन के आध्यात्मिक उद्देश्य के प्रति सजग रहने का प्रयत्न करना चाहिए। हम नाना प्रकार से लोगों से युक्त संसार में रहते हैं और यह अस्वाभाविक नहीं है कि हमें कुछ अत्यन्त कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़े। ऐसे अवसरों पर साधना ही हमारी सहायता करती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हमें दिन का प्रारम्भ ध्यान से और अन्त भी ध्यान से करना चाहिए। इससे जीवन

की समस्याओं का सामग्रिक रूप में सामना करने के लिए हमें शक्ति प्राप्त होती है तथा बाधाओं को दूर करने में सहायता मिलती है।

वाणी मानव के लिए सबसे बड़ा वरदान है। लेकिन ऐसा कहा गया है कि व्यक्ति प्राय: बोलता पहले है और सोचता बाद में है। यही खतरा है। शेक्सपियर के शब्दों में, हम न जाने कितनी बार उन "असन्तुलित विचारों" को वाणी से व्यक्त कर डालते हैं। भगवान् की अद्भुत देन वाणी का संयत प्रयोग करना चाहिए। बिना विचारे बोलने के बदले चुप रहना श्रेयस्कर है। मौन सचमुच स्वर्णिम है। शब्दाभिव्यक्ति के क्षेत्र में अहंकार और स्वात्याग्रह की इतनी अधिक कामना हो सकती है, कि वह समस्या पैदा कर दे। अत: हमें बोलने में सावधान होना चाहिए। शुभ विचारों को प्रोत्साहित करने का सचेतन, सौद्देश्य, सावधानीपूर्वक और निश्चित प्रयास करना चाहिए। इसके फलस्वरूप अन्तत: उचित व्यवहार और शुभ चरित्र का विकास होगा। आत्मसंयम और नियंत्रण का सर्वत्र सर्वदा अभ्यास करना चाहिए। हम नहीं जानते कब हम तूफान के शिकार हो जाएँ। गीता का कथन है कि इन्द्रिया समझदार व्यक्ति को भी अभिभूत कर देती हैं। अत: सामान्य व्यक्ति को कितना अधिक सावधान रहना चाहिए, यह स्पष्ट है। एक गलती को सुधारने में बहुत मेहनत करनी पड़ती है। अत: बुरी दिशा में फिसलने से बचना ही उचित है। हमें सतत् शुभ चिन्तन करना चाहिए। तब फिर अपवित्र विचारों को मन में प्रवेश करने का मौका नहीं मिलेगा।

निष्ठावान व्यक्तियों के लिए चिन्ता की कोई बात नहीं है। यह ईश्वर की ही सृष्टि है। अत: यदि हम आध्यात्मिक पथ का अन्वेषण कर रहे हैं तथा हमें ईश्वर में विश्वास है तो चिन्ता और संशय का कोई स्थान नहीं हो सकता। ईश्वर हमारे जीवन के आधार हैं। यह आवश्यक है कि हमारे आन्तरिक और बाह्य, दोनों ही जीवन पवित्र हों। अन्यथा अनावश्यक गुप्त प्रवृत्तियाँ हममें पुन: जाग कर समस्याएँ पैदा कर सकती हैं। प्रलोभनों का सामना करना चाहिए और इसके लिए संयम आवश्यक है।

कुछ लोग कठिनाईयों, विपत्तियों के फलस्वरूप आध्यात्मिक जीवन

की ओर मुड़ते हैं। उदाहरण के लिए किसी को अपने सुखमय और शान्त जीवन में गहरी निराशा का सामना करना पड़े और वह उससे बचने के लिए – एक प्रकार से जीवन के यथार्थ से पलायन करना चाहे। यदि हम इस प्रकार ईश्वर की ओर हृदयहीनता पूर्वक मुड़ें तो हम देखेंगे कि निराशा का भाव हमारा पीछा नहीं छोड़ेगा। हमें ईश्वर को तथा सत्य को जानने की इच्छा से आध्यात्मिक पथ अंगीकार करना चाहिए।

ध्यान के लिए इष्ट अथवा हमारे आराध्य अवतार-विशिष्ट का रूप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इष्ट का निर्धारण और हमारी आध्यात्मिक प्रकृति के अनुरूप इष्ट मंत्र की प्राप्ति के बाद ये हमारे लिए अत्यन्त पवित्र हो जाते हैं तथा उनको स्वयं गोपन रखना चाहिए और लोगों को बताना नहीं चाहिए। यदि हम कभी चिन्ताग्रस्त अथवा विचलित हों तो प्रार्थना तथा भगवान् के नाम के जप का सहारा ले सकते हैं तथा इस प्रकार अपने आन्तरिक जीवन की गहराई में डूब सकते हैं। भले ही अपनी विपदा, क्रोध अथवा असन्तोष के कारण यह हम सुचारु रूप से न कर पायें तो भी हम विक्षेप के प्रवाह को नियंत्रित और बाधित करने में तो सफल हो ही जाएँगे। अत: क्रुद्ध होने पर भगवन्नाम का जप करना लाभदायक है और प्रसन्न होने पर तो भगवन्नाम का जप करना ही चाहिए। इस प्रकार हम अपने दैनन्दिन जीवन में आध्यात्मिकता का समावेश कर पायेंगे और अपवित्र प्रवृत्तियाँ हम पर प्रभुत्व नहीं जमा सकेंगी।

अन्त में हमें यह समझ लेना चाहिए कि आध्यात्मिक जीवन अंगीकार करने का अर्थ है प्रवाह के विपरीत दिशा में तैरना। हमारे आसपास का सारा संसार एक दिशा में बहा जा रहा है और हमने दूसरी दिशा में जाने का निश्चय किया है। भले ही हमने संसार से भिन्न मूल्यों का चयन किया हो लेकिन हम देखेंगे कि यदि हम थोड़ी सी भी ढील दें तो हम पुन: उसी दिशा में बहने लगेंगे जिसमें संसार बह रहा है। अत: हमें प्रयास करते रहना चाहिए। "सतत सतर्कता स्वाधीनता की कीमत है", और कोई भी विकर्षण अथवा बाह्य खिंचाव आध्यात्मिक प्रगति में सहज ही बाधक बन सकता है।

हममें से प्रत्येक के समक्ष उपस्थित बाधाएँ हमारी अपनी निजी तथा प्रत्येक के लिए विशिष्ट होती हैं। वे प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न होती हैं। इन बाधाओं से निबटने के सामान्य सिद्धान्त बताये जा सकते हैं लेकिन प्रत्येक के लिए पृथक औषधियों के नुस्खों की तरह इन बाधाओं का सामना करने हेतु प्रत्येक को एक विशिष्ट उपचार की आवश्यकता है और बना बनाया नुस्खा नहीं दिया जा सकता। यदि हम क्रीड़ारत बच्चों को देखें तो पायेंगे कि कोई बच्चा अचानक गिरता है लेकिन अपनी धूल झाड़कर इस तरह पुन: खेलने लगता है मानो कुछ नहीं हुआ है और एक अन्य दूसरा लड़का गिर कर उठता ही नहीं और रोता रहता है। आध्यात्मिक जीवन में भी ऐसा हो सकता है। हमें आशावादी होना चाहिए। यदि हम आध्यात्मिक पथ को स्वीकार करें तो हमें सत्य के साक्षात्कार का दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए। यदि कोई गलती हो जाए तो उसे सुधार कर अपने निर्दिष्ट पथ पर अग्रसर होते रहना चाहिए।

यदि हम यह दृष्टिकोण अपनायें तो धीरे-धीरे सभी बातें ठीक हो जाएँगी। नाना प्रकार की बाधाओं और कठिनाईयों से पूर्ण हमारे सामान्य जीवन से भी हम यह जानते हैं कि यदि हमें अपने गन्तव्य का ज्ञान हो तो हम कठिनाईयों को दूर करना भी सीख लेते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आध्यात्मिक जीवन किस प्रकार एक स्वतन्त्र, आशावादी, आनन्दप्रद खोज तथा जीवन के सभी पक्षों में हमें प्रेरित करने वाली मुख्य प्रेरणा बन सकता है। संसार के बीच रहते हुए भी हमें जीवन के वास्तविक अर्थ के अनुसन्धान का प्रयत्न करना चाहिए।

□□□

(१०)

ध्यान की बाधाएँ और सहायताएँ

स्वामी नित्यबोधानन्द

आध्यात्मिक जीवन नये प्रदेश में भ्रमण के समान है। गुरु अथवा आध्यात्मिक पथ निर्देशक एक ऐसे व्यक्ति के समान है जिसने पहले ही उस नये प्रदेश का भ्रमण कर लिया है। भ्रमण के प्रति उसका उत्साह दूसरों में संक्रमित होता है। शास्त्रों में अन्तर्प्रदेश का वृत्तान्त प्राप्त होता है लेकिन वे हम तक उस भाव को नहीं पहुँचा सकते जो उस प्रदेश का भ्रमण करने वाला कर सकता है। यही नहीं, सत्य की जिज्ञासा से उत्पन्न रुचि आध्यात्मिक जीवन की एक अनिवार्य शर्त है। इसके बिना इस यात्रा के लिए आवश्यक सतत प्रयास बनाये नहीं रखा जा सकता। यह रुचि एक ऐसे आध्यात्मिक व्यक्ति द्वारा ही उत्पन्न की जा सकती है जिसका जीवन जगत्-केन्द्रित न होकर ईश्वर-केन्द्रित हो। अत: हमारे जीवन में ऐसे व्यक्ति की उपयोगिता हमारी रुचि के केन्द्र को परिवर्तित करने में है। उनके उत्साह से हम अपने इस जन्म के उद्देश्य और संसार को नितान्त भिन्न दृष्टि से देखने लगते हैं।

शास्त्रों के उपदेश उन लोगों के लिए नहीं हैं जिन्हें आध्यात्मिक जीवन के प्रति किञ्चितमात्र भी रुचि अथवा झुकाव न हो। क्योंकि सच्ची रुचि होते हुए भी, गुरु रहते हुए भी हम लक्ष्य प्राप्ति के विषय में पूर्ण आश्वस्त नहीं हो सकते। कभी हम संशयग्रस्त हो सकते हैं तो कभी रोग के शिकार हो सकते हैं। अथवा कभी साधना के बाद एक प्रकार की जड़ता का अनुभव हो सकता है। बहुत से लोगों में साधना प्रारम्भ करने की क्षमता होती है

लेकिन और भी कम लोगों में उसे बनाये रखने की दृढ़ता होती है। इन मानवीय दुर्बलताओं का पूर्वानुमान करने तथा तद्विषयक निश्चित निर्देश प्रदान करने वाले योगविषयक ग्रन्थों ने नौ प्रकार की बाधाओं का उल्लेख किया है।

शारीरिक रोग-व्याधि :

यह पहली बाधा है। शास्त्रों का दावा है कि योगाभ्यास से ही देह स्वस्थ रहती है, लेकिन योगाभ्यास से देह पूरी तरह परिवर्तित नहीं हो सकती। इससे शरीरस्थ ग्रन्थियों के रसों का निरसन अधिकतम मात्रा में हो सकता है तथा अन्य दैहिक क्रियाएँ सुचारु रूप से हो सकती हैं, लेकिन जन्मजात और प्रकृतिगत दोष दूर नहीं हो सकते। साधक को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए और जन्मजात भौतिक दोषों की बाधा को दूर न कर पाने के कारण हताश नहीं होना चाहिए। सतत् अभ्यास से उसकी इच्छाशक्ति में वृद्धि होगी। यही कारण है कि अद्भुत इच्छाशक्ति वाले ऐसे अनेक आध्यात्मिक लोग दिखायी देते हैं जिनकी देह प्राय: दुर्बल होती है। वे अपनी शारीरिक अवस्था की उन्नति नहीं कर पाते किन्तु इच्छाशक्ति, व्यक्तित्व व चरित्र का निर्माण कर लेते हैं।

स्त्यान, प्रमाद, आलस्य और निद्रा :

जिस इच्छाशक्ति की हमने अभी बात की उसकी आवश्यकता अन्य तीन सम्भावित बाधाओं से बचने के लिए भी है। वे हैं स्त्यान, प्रमाद और आलस्य। उत्साह के अभाव में तथा मन को एकाग्र करने में असमर्थ होने पर स्त्यान उत्पन्न होता है। ऐसे अनवधान और मन के असहयोग की स्थिति में इच्छाशक्ति का उपयोग ही एकमात्र उपाय है। "मैंने इसके पूर्व अभी तक सफलता अर्जित की है अत: मैं मन को एकाग्र कर सकता हूँ", ऐसा संकल्प कर हमें उस मनोभाव-विशेष को समाप्त कर देना चाहिए। आध्यात्मिक प्रयास को तिरोहित करने वाले अथवा उसको उठने न देने वाले तमोगुण से अभिभूत होने पर हम इच्छाशक्ति के द्वारा अपना उत्साह पुन: प्राप्त कर सकते हैं।

शक्ति और ऊर्जा का प्रयोग न कर पाना प्रमाद है और न करने की इच्छा आलस्य है। शक्ति के अभाव में हम कार्य नहीं कर पाते। हमारी कार्य के प्रति अनिच्छा प्रयत्न के अभाव के कारण होती है। इन दोनों को केवल इच्छाशक्ति द्वारा ही दूर किया जा सकता है। यदि शक्ति का सचमुच अभाव हो, जैसा कि शारीरिक थकान के अवसरों पर होता है तो पूर्ण विश्राम किये बिना कुछ नहीं करना चाहिये। यदि काल्पनिक थकान हो तो ध्यान की पद्धति में परिवर्तन अथवा ध्यान में उपयोग किये जाने वाले प्रतीक को बदल कर देखना चाहिए। ऐसे परिवर्तन से निश्चित रूप से नयी रुचि पैदा होगी।

संशय और असावधानी :

एकाग्रता के लिए शक्ति और इच्छाशक्ति ही पर्याप्त नहीं हैं। हमें निरन्तर संशयरहित हो अभ्यास में सतत लगे रहना चाहिये। संशय इस प्रकार पैदा हो सकते हैं; ''क्या मैं ठीक पथ पर अग्रसर हो रहा हूँ? क्या मैं इन साधनों द्वारा जिनका मैंने आश्रय लिया है, लक्ष्य प्राप्त कर सकूँगा, इत्यादि? विश्वासघनमूर्ति गुरु का सान्निध्य ही ऐसी शंकाओं का ईलाज है। इसके अतिरिक्त साधनपथ पर अग्रसर होने वाले सहयात्री अपने अनुभवों के आधार पर हमें उत्साह और विश्वास प्रदान कर सकते हैं। हम यहाँ उस दार्शनिक संशय का उल्लेख नहीं कर रहे हैं जो चेतना के दो स्तरों के संघर्ष से उत्पन्न होता है तथा जो विरोधी विचारधारा का भाई है। लेकिन हम उस संशय की चर्चा कर रहे हैं जो विश्वासरूपी तेल के अभाव में आध्यात्मिकता की लौ को जलाये रखने में असमर्थ होता है। संशय की निकट सम्बन्धी है असावधानी। यहाँ मनन का अभाव नहीं होता लेकिन प्रत्येक स्तर पर उचित कदम उठाने की सावधानी का अभाव होता है। किसी श्रेष्ठ व्यक्ति की सहायता से प्रगति करने का अवसर हमें प्राप्त हो लेकिन हम उस अवसर को खो देते हैं।

अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व :

इच्छा और प्रयास के बावजूद भी कुछ लोग सतत् प्रगति नहीं कर

पाते। योगसूत्र में इसके बारे में कहा गया है कि यह कठिनाई पूर्व कर्मों के फलस्वरूप होती है जो जन्मगत बाधाओं अथवा अचेतन विरोध के कारण होती है। यदि पूर्व कर्म हमें पीछे की ओर खींचें तो साधना के वेग से हमें आगे बढ़ना चाहिए। जैसा कि माईस्टर एक्कार्ट कहते हैं, ''यदि तुमने भगवान् को खो दिया है तो उन्हें वहाँ खोजो जहाँ खोया है।'' इसका अर्थ यह है कि हमें उस आध्यात्मिक अनुभूति का मन में स्मरण करना चाहिए जो हमने कभी अतीत में प्राप्त की थी तथा उससे उत्साह प्राप्त करना चाहिए। पीछे फिसलने की सम्भावना एक बाधा है जो सदा बनी रहती है और फिर अपनी प्रगति से सन्तुष्ट हो जाने का खतरा भी साधक के सामने है। इस सन्तोष के कारण भी साधक पीछे रह जाता है।

अविरति और भ्रान्ति-दर्शन :

आध्यात्मिक जीवन की सबसे मूलभूत बाधा इन्द्रिय-विषयों के प्रति आसक्ति अथवा रुचि है। वासनाएँ सूक्ष्मरूप में बनी रहती हैं क्योंकि उनकी जड़ो को निकाला नहीं गया है। योग में सर्वदा वासनाओं पर सीधा प्रहार करने की सलाह नहीं दी गयी है। वह ध्यान जैसे आध्यात्मिक आनन्दों में रुचि बढ़ाने की सलाह देता है जिससे बाह्य विषय सुखों में रुचि धीरे-धीरे कम हो जाय। आध्यात्मिक आनन्द का अधिकाधिक अनुभव उस मन:स्थिति से भी छुटकारा दिलाने में सहायक होगा जिसमें विषयासक्ति एवं संसारासक्ति का जन्म होता है। सिद्धियाँ और चमत्कारी शक्तियाँ आध्यात्मिक जीवन की अन्तिम बाधाएँ हैं जो साधक के समक्ष उपस्थित हो सकती हैं। समाधि की शान्ति और सुख का चमत्कारी शक्तियों के साथ विनिमय नहीं हो सकता। सिद्धियों से व्यक्ति में समूल परिवर्तन नहीं होता लेकिन समाधि से होता है। प्राय: जब साधक को ध्यान में सुखद अनुभूति होती है – और यह निश्चित रूप से समाधि नहीं होती – तो वह उस अनुभव को पुन: प्राप्त करना चाहता है। संभवत: कुछ साधक उसी अनुभव की तीव्रता से कल्पना करके उसकी पुनरावृत्ति करने में सफल होवें, फिर भी वह ठीक पूर्वानुभव

के अनुरूप नहीं होगा। प्रथम अनुभूति अपने आप और बिना चाहे हुई थी लेकिन दूसरा अनुभव उसकी विशेष रूप से कामना के फलस्वरूप हुआ। किसी अनुभूति की प्राप्ति पर जोर देना अथवा जानबूझकर उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करना, साधना की एक बहुत बड़ी बाधा और प्रलोभन है।

अपनी आध्यात्मिक अनुभूति का तत्काल मूल्यांकन करना तथा उसे दूसरों को बताना, आध्यात्मिक जीवन का एक बड़ा प्रलोभन अथवा बाधा है। हमारे वैषयिक मानसिक दृष्टिकोण के कारण हम सभी की अपने आध्यात्मिक अनुभवों की दूसरों के अनुभवों से तुलना करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। मैं भले ही यह कहूँ कि मुझे कल की तुलना में आज अच्छी नींद नहीं आयी अथवा इस होटल की काफी उस होटल की काफी की तुलना में अच्छी नहीं है लेकिन आध्यात्मिक स्तर पर इस प्रकार की तुलनाएँ करने से आध्यात्मिक अनुभूति की निरन्तरता ही भंग नहीं होती जो कि एक अचेतन प्रक्रिया है, अपितु.व्यक्तिगत अहंकार की भी वृद्धि होती है। क्योंकि तत्काल किया गया मूल्यांकन एक वैषयिक उपलब्धि होती है तथा इससे स्वाभाविक ही अहंकार की वृद्धि होती है।

आध्यात्मिक जीवन में कोई भी तथाकथित उपलब्धि नहीं है। हम केवल अपनी अन्तर्दृष्टि पर पड़े परदों को हटाते जाते हैं। परदों को हटने का भान होना याने परदों का भान होना है। अत: पूर्ण तनावहीनता अथवा पूर्ण शरणागति का भाव सर्वश्रेष्ठ भाव है, जिसमें न तो अपनी अनुभूतियों का मूल्यांकन होता है और न ही तुलना, हम जीवन जीते मात्र हैं। हम उसके बारे में दूसरों से चर्चा तक नहीं करते क्योंकि दूसरों को बताने से अनुभूति की तीव्रता नष्ट हो जाती है। यदि कभी हमें चरम साक्षात्कार होवे तभी हम अपनी आध्यात्मिक अनुभूति के आनन्द को दूसरों को बता सकते हैं तथा उनके साथ बाँट सकते हैं।

ध्यान में सहायताएँ :

एक स्वस्थ शरीर में एक सन्तुलित मस्तिष्क, विश्वास तथा आध्यात्मिक

गुरु का सान्निध्य, आध्यात्मिक जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण सहायताएँ हैं। यह पूछा जा सकता है, "क्या अस्वस्थ शरीर वाले व्यक्ति के लिए आध्यात्मिक जीवन की कोई सम्भावना नहीं है?" अगर मस्तिष्क स्वस्थ और सन्तुलित हो तो शारीरिक दोषों की बाधा का अतिक्रमण किया जा सकता है। कुछ समय तक, जब तक कि शिष्य अपने आध्यात्मिक जीवन का निर्माण न कर ले अर्थात् ध्यान और विवेक-विचार की कला न सीख ले, जब तक ये साधनाएँ उसके लिए सहजात प्रवृत्तियों का रूप न ले लें, तब तक गुरु के सान्निध्य में वास करना चाहिए, ऐसी परम्परा है। जिन में आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ में विश्वास की कमी होती है, वे गुरु के सान्निध्य में उसे ग्रहण कर सकते हैं। क्योंकि गुरु एक श्रद्धासम्पन्न व्यक्ति होता है और उसकी श्रद्धा तथा दृढ़ विश्वास संक्रामक होते हैं।

आध्यात्मिक जीवन का उद्देश्य हममें उस विशुद्ध चेतना को जागृत करना है जो किन्ही बाह्य सीमाओं से आबद्ध नहीं होती। जगदातीत आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना लक्ष्य है। यह ज्ञान अपरोक्ष होता है। बुद्धि या शुद्धीकृत विचार द्वारा प्राप्त ज्ञान केवल परोक्ष ज्ञान होता है जिसमें हम अपने 'अहं' का ज्ञान प्राप्त करते हैं किन्तु द्रष्टा आत्मा का नहीं।

विशुद्ध आत्म चैतन्य का जागरण किसी बाह्य उपाय के द्वारा नहीं हो सकता। फिर भी कुछ अनुकूल व्यावहारिक भौतिक परिस्थितियाँ आवश्यक हैं, जिससे आत्म चैतन्य प्रकट हो सके। इसे समझाने के लिए कमल का दृष्टान्त दिया जा सकता है। कमल कीचड़ से उगता है लेकिन वह स्वयं कीचड़ नहीं है और न ही कीचड़ द्वारा सीमित अथवा उस पर निर्भर है।

ध्यान आध्यात्मिक जीवन का सबसे प्रमुख अंग है, अत: उसके अनुकूल प्राकृतिक दृश्य जैसी बाह्य परिस्थितियाँ वाञ्छनीय हैं। एक ऐसा स्थान चुन लेना चाहिए जहाँ केवल ध्यान किया जाय तथा प्रतिदिन वहाँ ध्यान के लिए जाना चाहिए। अत्यधिक हवा, अत्यधिक प्रकाश और बहुत कोलाहल युक्त वातावरण ध्यान के अनुपयुक्त हैं। स्थान शान्त और शब्दरहित होना चाहिए जिससे हममें आध्यात्मिक स्पन्दनों को प्रोत्साहन मिले। ध्यान

के स्थान के पास सन्तों और महात्माओं के चित्र रखो जिससे तुम्हारा मन सहज ही उनका चिन्तन कर सके और आसानी से तुम्हारा मन उनमें लग सके।

इसके बाद ध्यान और कैवल्य नामक समाधि रूप मुक्तावस्था की प्राप्ति के योगोक्त आठ अंगों का अनुष्ठान है। योगाभ्यास का उद्देश्य हमारे स्वभावगत चिन्तन और प्रवृत्तियों के विपरीत चिन्तन करना और सहज प्रवृत्तियाँ उठाना और उनका पुनर्निर्माण करना है। हमारे मन में सदा हिंसा, छल, अनधिकार अर्जन, काम, लोभ आदि के विचार उठते रहते हैं। उन्हें दूर करने अथवा दबाने की बात योग में नहीं की गयी है। उनके स्थान पर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के विचारों को उठाने का उपदेश दिया गया है। इन्हें दूर करना अथवा दबाना नकारात्मक प्रक्रियाएँ हैं जिनमें बहुत सी शक्ति क्षय हो जाती है, जबकि उनके स्थान पर सकारात्मक सद्गुणों का निर्माण एक वास्तविक उपलब्धि है। इन पाँच सद्गुणों का विकास यम नामक प्रथम अंग है। दूसरा है नियम अर्थात् सन्तोष के भाव का विकास करना।

यदि हम उपर्युक्त सद्गुणों का विकास न कर सकें तो कुछ आसान बातें सीखी जा सकती हैं; यथा दूसरों के कल्याण में प्रसन्नता का भाव बनाना, दुःखी लोगों के प्रति करुणा का भाव रखना आदि सामाजिक सद्गुण। योग में अन्य बातों के साथ इन सामाजिक सद्गुणों पर भी बल दिया गया है। इसका उद्देश्य हमारे मन में इस बात को बिठाना है कि योगी केवल एक ऐसा व्यक्ति नहीं है जो वन अथवा एकान्त में रहता है। वह समाज में रहता है तथा एक समुचित सामाजिक दृष्टिकोण युक्त व्यक्ति होता है।

दूसरों के सुख में प्रसन्न होना, दुःखी जनों के प्रति सहानुभूति, अपने सह-मानवों के सत्कर्मों में आनन्द का अनुभव करना और दुष्ट जनों अथवा असत्कार्य करने वालों के प्रति उपेक्षा का भाव रखना चाहिए। इस तरह हम दूसरों की आध्यात्मिक प्रगति से उत्पन्न होने वाली ईर्ष्या से मुक्ति, दुष्टों के प्रति घृणा, क्रोध और तथाकथित धार्मिक रोष से छुटकारा तथा गरीब और दुःखी लोगों के प्रति उपेक्षा के भाव से छुटकारा पा सकते हैं।

तीसरी साधना है, आसन। ध्यान के लिए सर्वोत्तम आसन वह है जिसमें हम लम्बे समय तक आराम से तनावरहित बैठ सकें तथा जिसमें मेरुदण्ड, गर्दन तथा सिर सीधे रहें। ऐसे आसन में हमारे मन में उच्चतर विचार उठते हैं। हमारा मन ऊर्ध्वगामी होता है।

चौथा अंग प्राणायाम है याने सन्तुलित श्वास-प्रश्वास। विचारों और श्वास-प्रश्वास में घनिष्ट सम्बन्ध होता है। अतः सन्तुलित श्वास-प्रश्वास से मन को सन्तुलित किया जा सकता है। आक्सीजन के आहरण में वृद्धि कर हमारे अन्तर को शुद्ध करने की क्षमता प्राणायाम में है। इसके साथ ही वह चेतना के निम्न केन्द्रों को आरामदेह ऊष्णता प्रदान कर जाग्रत भी करता है।

पञ्चम अंग है प्रत्याहार अर्थात् विभिन्न वस्तुओं और विषयों की ओर जाने-अनजाने में बिखरे मन को भीतर खींचना। इस प्रत्याहार की तुलना एक मछुए द्वारा एक विस्तारित स्थान में फैलाए गये जाल को धीरे धीरे खींचने से की जा सकती है जिसके द्वारा वह अपने प्रयास की लक्ष्य, मछलियों, को एक स्थान पर एकत्र कर लेता है।

इस प्रत्याहार की अवस्था से साधना के वास्तविक आध्यात्मिक पक्ष का प्रारम्भ होता है। मन रूपी जाल के सर्वत्र बिखरने की प्रवृत्ति उसकी चञ्चलता और स्वभावगत रुझानों के प्रति लगाव में परिलक्षित होती है। स्वभावगत वृत्तियों की ओर मन के झुकाव को रोकना होगा, क्योंकि शुभ वृत्ति भी ध्यान में सहायक नहीं होती। एक सोने की जञ्जीर भी जञ्जीर ही है। महत्त्वपूर्ण बात मन की विशुद्ध अवस्था की प्राप्ति करना है, जहाँ वह स्वभावगत प्रवृत्तियों द्वारा पैदा होने वाली समग्र वृत्तियों से रहित हो। चित्त रूपी सरोवर की तरंगों को कैसे शान्त किया जाय? एक तरंग को उठाकर तथा चयन की गई इस एक तरंग पर ही मन की समग्र शक्ति को लगाकर। एक दैवी प्रतीक ही वह चुनी हुई तरंग है जिसे हम अपनी सक्रिय कल्पना शक्ति द्वारा ध्यान में पैदा करते हैं।

जब कभी हमारे मन में एक तरंग या वृत्ति पैदा हो उसी समय हमें उसे उस प्रतीक में तत्काल विलीन कर देना चाहिए जो परमात्मा का द्योतक

है। इस प्रकार मन की बहिर्मुखी शक्ति इस प्रतीक को जीवन्त बना देती है। उद्देश्य की यह निष्ठा छठा सोपान है। एक प्रकार की वृत्ति को बार-बार उठाने से तथा उद्देश्य की एकनिष्ठता से चित्त एक ही विषय के साथ बँध सा जाता है। यह मानो एक प्रकार का बाह्य झुकाव रहित आत्मसम्मोहन है। इस अवस्था में चिन्तन एकाग्रता या धारणा को प्राप्त होता है। किसी एक स्थान में मन को एकाग्र करने की साधना, जो समस्त विक्षेपों से छुटकारा पाने का श्रेष्ठतम उपाय है, देह के किसी भी अंग पर की जा सकती है। मन को नासिकाग्र, हृदय चक्र, भ्रूमध्य अथवा मस्तक में सहस्रार स्थित ज्योति पर एकाग्र किया जा सकता है। इस साधना का उद्देश्य चेतना, जो अब तक बाह्य आधार खोज रही थी, उसे भीतर आधार प्रदान करना है।

एकाग्र चिन्तन या धारणा की स्थिति की कई मनोवैज्ञानिक सामग्रियाँ या विषय हो सकते है। कला, संगीत अथवा चित्रकला आदि श्रेष्ठतर विषय हैं क्योंकि इनके द्वारा मन का भटकाव रोका जा सकता है। एक कलाकार की सारी वृत्तियाँ एक मुख्य वृत्ति – कला – में सार्थक हो जाती है। कला उसकी आदत हो जाती है और आदतों से ही चरित्र और व्यक्तित्व का गठन होता है। जब हम यह कहते हैं कि कला एक आदत के रूप में उसका व्यक्तित्व और चरित्र बन जाती है तब हमारा अर्थ यह है कि उसके द्वारा चुना गया कला का आदर्श उसकी चेतना पर छा जाता है तथा उसके जीवन की प्राणदायिनी शक्ति, उसकी इच्छा तथा उसके जीवन की मुख्य भावना बन जाता है।

जब साधक ध्यान के लिए चुने गये अपने इष्ट-प्रतीक को चेतना में रूपान्तरित करता है तब वह कला-प्रतीक को चेतना और इच्छा में प्रतिष्ठित करने का ही कार्य करता है। मान लो किसी ने बुद्ध को ध्यान के लिए प्रतीक के रूप में चुना है। अब जब कभी मन में कोई विचार उठता है तब वह उसके ऊपर बुद्ध के चेहरे की कल्पना करेगा तथा उस विचार को बुद्ध के मुखमण्डल से आवरित कर देगा। फिर धीरे-धीरे बुद्ध चेतना में विलीन हो जाते हैं। तब फिर बुद्ध नहीं रहते। दूसरे शब्दों में बुद्ध कालातीत हो गये हैं।

जब बुद्ध एक आध्यात्मिक निश्चिन्तता को पीछे छोड़ कर चेतना में विलीन हो गये हों तब समझना चाहिए कि ध्यान अच्छा हुआ है। यह निश्चिन्तता भी कि मैंने ध्यान अच्छा किया है, ध्यान के समय विद्यमान नहीं रहती। वह बाद में स्मृति की सहायता से जागती है। गहरे ध्यान के क्षणों में हम निर्बीज अथवा निर्विकल्प चेतना की एक ऐसी अवस्था को प्राप्त होते हैं जहाँ मन में कोई विचार नहीं बचता। उस क्षण में विशुद्ध 'अहं', केवल साक्षी-अविभक्त, भेद-रहित साक्षी विद्यमान रहता है, अन्य सभी विचार समाप्त हो जाते हैं। यही नहीं, सारी आत्मप्रतीति नष्ट हो जाती है। ऐसे में ध्यान में ध्याता को यह बोध नहीं रहता कि कौन ध्यान कर रहा है। आत्मप्रतीति का यह लोप, जिसकी तुलना प्रगाढ़ निद्रा में होने वाले आत्मप्रत्यय के लोप से की जा सकती है, साधना की अन्तिम अवस्था है। यह समाधि कहलाती है।

ध्यान में हमारा मन क्रमशः अपनी आत्मप्रतीति खोता जाता है। ध्यानरत हमारे मन की कहानी उस नमक के पुतले की कहानी सदृश है जो समुद्र की गहराई नापने गया और सूचना देने के लिए वापस नहीं लौटा। गहरे ध्यान का अनुभव शब्द और विचार के परे है। इसी बात को श्रीरामकृष्ण दूसरे प्रकार से कहा करते थे। वे कहते थे कि जब वे समाधि के अनुभव का वर्णन करना चाहते हैं तभी माँ जगदम्बा उनका मुँह बन्द कर देती हैं।

ऐसी सभी अवस्थाओं में जब साक्षी भाव अथवा द्रष्टा भाव सुदृढ़ होता है आत्मप्रतीति विलुप्त होती है। कल्पना करते समय, गहरी कलात्मक अनुभूति के समय, देश और काल का हमारा बोध नष्ट हो जाता है। हम केवल यही कह पाते हैं कि हम अपने आप को भूल गये थे। दूसरे शब्दों में, इन अवस्थाओं में हमारी एकाग्रता, हमारी जानकारी के बिना, हमारे प्रयत्न के बिना बढ़ जाती है। मान लो मैं किसी पर्वतीय एकान्त में बिना किसी व्यवधान के निवास कर रहा हूँ। मैं आसानी से नीचे स्थित नगर में जा सकता हूँ जहाँ भीड़ है, सिनेमा और होटलें हैं तथा मनोरंजन के अन्य साधन हैं। मैं इस नगर में जाना पसन्द करता हूँ। इसका कारण यह है कि

वहाँ पर मन को विक्षिप्त करने वाली विभिन्न वस्तुओं द्वारा घिरे रहने के कारण वे अनायास ही मेरे ध्यान को आकर्षित कर लेती हैं। इसके कारण पर्वतीय एकान्त स्थान में सीमित मेरी चेतना क्रमशः विस्तारित हो जाती है। मेरी प्रतीति का अचेतन विस्तार मुझे सुख प्रदान करता है।

ध्यान करते समय प्रतीक के चिन्तन से उत्पन्न हमारी चेतना का होने वाला विस्तार अनायास ही आत्मा की ओर मुड़ जाता है। जिन लोगों का ध्यान अच्छा होता है उनके आध्यात्मिक आनन्द का यही कारण है। बुद्ध जैसे प्रतिक का ध्यान करने से मेरी चेतना का विस्तार आपाततः प्रयत्नपूर्वक होता है। दूसरी अवस्था में इस विस्तार को ध्यान में आत्मसात किया जाता है। इस तरह आत्मसात किये बिना वास्तविक ध्यान नहीं हो सकता। जब तक हम प्रतीक के स्तर पर ही हैं तब तक ध्यान प्रारम्भ नहीं होता। वह केवल मन को बलपूर्वक एकाग्र करना मात्र होता है।

हम जानबूझकर प्रयत्नपूर्वक ध्यान प्रतीति को आत्मसात् नहीं कर सकते। यह एक अचेतन प्रक्रिया है। हम केवल इतना ही कर सकते हैं कि अपनी विस्तारित चेतना को आत्मा के द्वार पर प्रस्तुत कर दें तथा पूर्वाग्रह रहित हो शरणागत भाव से प्रतीक्षा करें। सभी आध्यात्मिक साधना पद्धतियों में साक्षात्कार के पूर्व एक पूर्वाग्रहरहित उन्मुक्त अवस्था का उल्लेख किया गया है। ऐसा करते समय वे साधन पद्धतियाँ उस क्षण का वर्णन करती हैं जब प्रतीक के द्वारा व्यापक हुई चेतना अनायास ही आत्मचैतन्य की ओर प्रवाहित होती है। उसके आत्मचैतन्य में विलीन होने पर स्वप्रतीति नष्ट हो जाती है। लेकिन हमें आनन्द की अनुभूती होती है। हमें ध्यान में कालातीत अवस्था का आस्वादन प्राप्त होता है।

समाधि की अनुभूति होने पर हमारा रूपान्तरण हो जाता है। हमारी जीवनधारा बदल जाती है। हम पूर्ववत् खाते-पीते, सोते तथा विभिन्न लौकिक कर्म करते रहते हैं लेकिन द्वन्द्व नहीं रहते। क्रोध, ईर्ष्या, काम अथवा वासनाओं का प्रभाव नहीं रहता। हमारा जीवन निरन्तर भगवत्-सान्निध्य तथा दूसरों को उसका आनन्द प्रदान करने के एकमात्र उद्देश्य से उद्भासित हो उठता है।

गहरे प्रेम में डूबे व्यक्ति को जिस प्रकार अपने प्रियतम का मुख ही सर्वत्र दिखता है उसी प्रकार समाधिवान अथवा जीवन्मुक्त व्यक्ति सर्वत्र परमात्मा का दर्शन करता है। इस एकत्व की भावना में दु:ख, पीड़ा, सहायता अथवा वासना का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि हमें सर्वत्र एकत्व की प्रतीति होती है। हम विस्तारित हो विश्व-व्यापक हो जाते हैं अथवा विश्व हमारे हृदय में घनीभूत हो जाता है। यह हमें विश्व के दु:ख-दर्द को अपना तथा आत्मविस्मृति की निश्चिन्तता के साथ संसार के लिए दु:ख सहने का सामर्थ्य प्रदान करता है। दूसरों के लिए जीने तथा दूसरों के दु:खों को सहन करते समय यह भाव जितना प्रबल तथा उत्कर्ष पर रहता है उतना और कभी नहीं।

बुद्ध, ईसा और रामकृष्ण की समाधियाँ हममें आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने के लिए आत्मविश्वास का सञ्चार करती हैं। उनकी जीवनियाँ, उनकी अनुभूति की महिमा-मण्डित स्थिति तक पहुँचने की हमारी भी सम्भावना को मानो हमारे कानों में धीरे से फुसफुसाती हैं। वे हमें अपनी नम्र रीति से उनके अनुरूप आचरण को प्रेरित करती हैं। मानव के आध्यात्मिक कल्याण हेतु उनका प्रेम और सहानुभूति हमें प्रभावित करते हैं तथा उनके उदाहरण से हमें यह अनुभव होता है कि दूसरों के लिए जीये गये क्षण ही हमारे जीवन के श्रेष्ठतम अंश हैं। दूसरे शब्दों में वे क्षण ही हमारे जीवन के श्रेष्ठतम क्षण होते हैं जब हम अपने क्षुद्र अहंकार को भूल कर उसके चंगुल से मुक्त होते हैं, जब उससे उत्पन्न व्यग्रता और संग्रहवृत्ति तथा सर्वोपरि इन दुर्बलकारी विचारों से कि हमारा ज्ञान तथा मेधा सीमित है, मुक्त होते हैं।

आध्यात्मिक जीवन हमारे सीमित ज्ञान और सीमित शक्ति के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली निराशा तथा क्षुद्र अहं के बन्धनों से मुक्ति प्रदान करता है। यह चाहे निष्काम कर्म, भगवद्भक्ति अथवा ज्ञान से प्राप्त हो, बात एक ही है। इनसे परमात्मा के साथ एक नये मार्ग का उद्घाटन होता है जो अभी बन्द पड़ा है। इस मार्ग से हम उस परमात्मा की शक्ति

और ऐश्वर्य के अधिकारी हो जाते हैं जिस परमात्मा की वाणी व्यावहारिक जीवन के रीति-रिवाजों और अभ्यासगत कर्मों से आवृत होने के फलस्वरूप बहुत कम सुनाई देती है। महानतर साम्राज्य की उपलब्धिरूप मुक्ति का यह आश्वासन हमें आध्यात्मिक जीवन की ओर आकृष्ट करता है। जब तक इस आध्यात्मिक मुक्ति की पिपासा हमारे प्रयासों के सम्बल के रूप में विद्यमान है तब तक हमारे द्वारा की गई त्रुटियों का कोई महत्त्व नहीं है। वस्तुत: आदर्श तथा उसे जीवन में प्रतिफलित करना मुख्य बात है न कि उसे पाने तथा पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया में उत्पन्न कठिनाईयाँ और त्रुटियाँ।

□□□

(११)

प्रशिक्षित मन

स्वामी भव्यानन्द

मन के समत्व के विषय में चर्चा करते समय हमने मन और उसके विविध आयामों का विस्तार से वर्णन किया था। हमने देखा था कि मन, देह को सञ्चालित करने में आत्मा का यंत्रस्वरूप है। सूक्ष्मपदार्थ होते हुए भी वह हमें पदार्थ से परे ले जा सकता है। इस अर्थ में वह उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति की प्राप्ति का प्रभावशाली यंत्र बन सकता है।

मन अपने आप में एक बहुत जटिल यंत्र है। अवश्य, सामान्य स्तर पर वह देह के साथ घनिष्ठ रूप से संयुक्त रहता है। लेकिन उच्चतर स्तरों पर वह कहीं अधिक उच्चतर उद्देश्य की पूर्ति करता है। इस उद्देश्य को कुछ लोग 'तर्क' कहना चाहेंगे। 'तर्क' अवश्य मन की एक अद्भुत क्षमता है लेकिन फिर भी वह एक सीमित क्षमता है। जब प्रत्यक्षीकृत तथ्यों से विश्वसनीय जानकारी उपलब्ध होती है तब मन तर्क करता है। लेकिन इन तथ्यों के अभाव में तर्क अधिक प्रभावशाली नहीं होता। हम जब यह कहते हैं कि हमने किसी बात को समझ लिया है तब हमारा तात्पर्य केवल यह होता है कि हमने युक्ति या अनुमान द्वारा उसके पीछे कार्य कर रहे नियमों अथवा शक्तियों को समझ लिया है। परन्तु सत्य का स्वरूप, मूलभूत ''क्यों और कैसे'' जाने नहीं जाते। उदाहरण के लिए हम गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त को लें। हम गुरुत्वाकर्षण को समझते हैं पर गुरुत्वाकर्षण क्यों है, यह मन द्वारा नहीं समझ सकते। हममें उच्चतर ज्ञान होता है – चाहे उसे ''बोध'' या ''सत्य'', जो भी कहें – जो

मन के माध्यम से अभिव्यक्त होने पर भिन्न रूप धारण कर लेता है। मन के इस उच्चतर स्तर तक किसी न किसी तरह पहुँचना चाहिए।

मन के पीछे विद्यमान सत्य को जानने के लिए मन की "तीक्ष्णता" या पैनापन आवश्यक है। जैसा कि कठोपनिषद् (१.३.१२) में कहा गया है "दृष्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदृष्टिभि:", अर्थात् वह सत्य सूक्ष्मदर्शियों की सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा जाना जाता है। मन एक वाद्ययंत्र के समान है जिसे संगीत के लिए अच्छी तरह से साधना पड़ता है। यदि तार अधिक कसे अथवा बहुत ढीले हों तो श्रेष्ठ संगीत पैदा नहीं हो सकता। अत: मानव के देह और मन के ढाँचे को साधना चाहिए ताकि वह उस सत्य को अभिव्यक्त कर सके जो मानव जीवन का लक्ष्य है। आज हमने मानव की देह और मन को जीवन, संस्कृति और सभ्यता के उपभोग हेतु साध रखा है। इसी मन को उच्चतर स्तर पर साध कर अतीन्द्रिय आध्यात्मिक अनुभूति के आनन्द का उपभोग किया जा सकता है।

अभी हम सत्यानुभूति के उपयुक्त यंत्र नहीं हैं फिर भी कभी-कभी हमें उस सत्य की झलक मिल जाती है। कई बार ऐसी अनुभूति हमें अचरज में डाल देती है। यह भी सम्भव है कि हम उसको पाने के प्रयत्न से भयभीत हो जाएँ। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कथन है :

> कभी-कभी मुझे तुम्हारी एक झलक प्राप्त होती है।
> सदा क्यों नहीं होती?
> हृदय पर बादल छा जाते हैं
> और तुम्हें छुपा देते हैं।

मानो बादलों के द्वारा सूर्य आच्छादित हो जाता है। हम सूर्य को देखना चाहते हैं पर मेघ और कुहरा उसे छुपा देते हैं। अचानक बादल छँटते हैं और हमें एक झलक मिल जाती है जो शायद शीघ्र ही पुन: आच्छादित हो जाती है। हमारे दैनन्दिन जीवन के बीच सत्य की आकस्मिक झलकें दिखाई देती हैं लेकिन हमारे दैनन्दिन कर्मों का बोझ तथा सुख के पीछे हमारी पागल दौड़ इतनी प्रबल होती है कि हम इन संकेतों की उपेक्षा कर

उन्हें भूल जाते हैं। प्रतिदिन की छोटी-छोटी बातें हमें अभिभूत कर देती हैं। अत: हमें अपने मन को सुचारू रूप से साधना चाहिए और सुदूर प्रदेश की इन झलकों को अधिकाधिक महत्त्व देना चाहिए। उन्हें तब तक अधिकाधिक संजोना चाहिए जब तक वे अन्तत: सम्मिलित हो एक प्रबल और अबाध प्रवाह का रूप न ले लें। मन का प्रशिक्षण इस प्रकार प्रारम्भ होता है और तभी हम आध्यात्मिक दिशा में अग्रसर होते हैं। इन प्रारम्भिक प्रयासों में से कोई भी व्यर्थ नहीं जाता। उच्चतर मन इन सारी अनुभूतियों का आकलन करता है और उन्हें स्वीकार करता है। हम ज्यों-ज्यों प्रगति करते हैं त्यों-त्यों अगली उच्चतर अवस्था स्वयमेव प्रकट होती जाती है। आत्मपिपासा का भाव मन पर पूरी तरह छा जाना चाहिए। जैसे नदी में नौका के द्वारा हम यदि सागर में पहुँचना चाहें तो नहरों और सहायक जलमार्गों में भटक जाने का भय सदा बना रहता है। इसी प्रकार साधक के मार्ग में अनेक भटकाव आते हैं। मुख्य साधन प्रवाह में बने रहने के लिए उसे सावधानीपूर्वक अपनी नौका को सही दिशा में लगाये रखना चाहिए।

चित्तानुशासन की दिशा में प्रगति होने पर सत्य की आभा का अनुभव सुदूरवर्ती ज्योति के रूप में होता है और उसका अनुसरण करते हुए व्यक्ति मन को भी पीछे छोड़ देता है। तात्पर्य यह कि मन का विश्लेषण करने पर व्यक्ति नित्यशुद्ध पूर्ण सत्य का साक्षात्कार करता है। यह सम्भव है। ऐसा होने पर फिर सांसारिक सुख-दु:ख व्यक्ति को विचलित नहीं करते। मृत्यु भी उसे भयभीत नहीं कर सकती। इसका अर्थ यह नहीं है कि यह अनुभूति मरणोपरान्त होती है। यह यहाँ, इसी संसार में हो सकती है। केनोपनिषद् में कहा गया है :

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।। २:५

अर्थात् यदि इस जीवन में सत्य का साक्षात्कार कर लिया तो सत्य है याने बहुत कुशल है। यदि नहीं किया तो उस व्यक्ति के लिए महा विनष्टि है।

यदि जीवित रहते हुए यह सत्यानुभूति न होने वाली हो, तो धर्म-

सिद्धान्त और पादरीगण चाहे जो भी वादे क्यों न करें उसके लिए प्रयास करना व्यर्थ है। इसके विपरीत इस अनुभूति के परिणामस्वरूप जीवन शान्ति, प्रेम और करुणा से पूर्ण हो जाता है।

जिन लोगों ने मन को संचलित करने का कुछ प्रयत्न किया है, वे जानते हैं कि मानव की मानसिक शक्तियों का परिचालन करना कितना कठिन है। इन अनुशासनों का आंशिक अनुष्ठान मात्र करने वाला व्यक्ति भी एक अच्छा आदमी कहलाता है। लेकिन यदि कोई मानसिक और नैतिक जीवन में और ऊपर उठना चाहता है तो मन का और अधिक मात्रा में अनुशासन आवश्यक है तथा उच्चतम स्तर पर तो मन तक का अतिक्रमण भी आवश्यक है। अत: उपनिषद घोषणा करते हैं : ''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'', अर्थात् मन और वाणी उस सत्य को पाये बिना लौट आते हैं। इसे समझने के लिए एक उदाहरण दिया जा सकता है। जिन अन्तरिक्ष यात्रियों ने चन्द्रमा पर पहुँचने के लिए चन्द्र केप्सूल (Module) का उपयोग किया था, उन्होंने ही, लौटते समय उसका तथा साथ के कुछ अत्यन्त मूल्यवान संयंत्रों का परित्याग कर दिया। चन्द्रमा तक पहुँचने के लिए जो एक समय अत्यन्त आवश्यक उपकरण थे, वे ही प्रत्यावर्तन-यात्रा की पूर्ति में बाधा बन गये। इसी प्रकार आध्यात्मिक यात्रा के अन्तिम चरण में मन को भी पीछे छोड़ देना होता है, चाहे यह बात अभी हमें कितनी भी हास्यास्पद क्यों न लगे। कुछ लोग इसे पागलपन कह सकते हैं और साधनपथ का प्रारम्भ करने वाले व्यक्ति को यह ऐसा ही प्रतीत हो सकता है। जब श्रीरामकृष्ण इस प्रकार के आध्यात्मिक अनुभवों से गुजर रहे थे तब लोग उन्हें पागल ही कहते थे। श्रीरामकृष्ण की इस अवस्था का उल्लेख करते हुए स्वामी विवेकानन्द हमें कहते हैं, ''ऐसे पागलपन का शिकार व्यक्ति धन्य है। सारा संसार पागल है; कोई धन के पीछे, कोई सुख के पीछे, कोई नाम-यश के लिए; इसी प्रकार की अन्य सैकड़ों वस्तुओं के लिए। लोग स्वर्ण, पति अथवा पत्नी के लिए ... धनवान बनने के लिए पागल हैं; एक भगवान् को छोड़ सभी प्रकार की व्यर्थ वस्तुओं के लिए पागल हैं। धन्य है वह व्यक्ति

जो भगवान् के लिए पागल है। ऐसे व्यक्ति बहुत कम होते हैं।"

सांसारिक सुखों से मन को हटाना साधक के लिए परमावश्यक है। गहरे पैठने के लिए उसे मन को अन्तर्मुख करना आवश्यक है। यही बात कठोपनिषद् में कही गयी है :

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुः अमृतत्वमिच्छन्। (कठ २.१.१.)

– अर्थात्, किसी बिरले, अमृतत्व के इच्छुक धीर व्यक्ति ने अन्तर्मुखी होकर अन्तरात्मा का साक्षात्कार किया। ईसा मसीह ईश्वर के राज्य की चर्चा करते समय बड़े प्रयत्न के साथ इसी बात को कहते हैं : "और जब फेरसीज़ ने उनसे पूछा कि ईश्वर का राज्य कब होगा तो उन्होंने उनको उत्तर दिया, ईश्वर का राज्य आता दिखाई नहीं देता है; लोग यह भी नहीं कहेंगे, 'यह रहा, यह रहा।' क्योंकि, सुनो, ईश्वर का राज्य तुम्हारे भीतर है।" हमारी यह मान्यता रहती है कि अन्तर्मुखी होने से कुछ कमी आ जाती है या कुछ खोना पड़ता है, लेकिन ऐसी बात नहीं है। मन और इन्द्रियों को बहिर्जगत के प्रति बन्द कर लेने पर हमें उतनी ही आकर्षक और मोहक एक अन्य अवस्था का आभास मिलता है। जैसा कि गीता में कहा गया है : जो समस्त प्राणियों के लिए निशा या अन्धकार स्वरूप है, वहाँ संयमी जागता है और जिसमें संसार के लोग जाग्रत रहते और भोग करते हैं, वह आध्यात्मिक व्यक्ति को निशा की तरह अन्धकारमय दिखाई देता है। हमारे मन और इन्द्रियसमूह विज्ञान एवं तकनीकी द्वारा उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ यंत्रों की सहायता से भी सत्य के विषय में बहुत थोड़ी जानकारी प्रदान करते हैं। आज यह सर्वविदित है कि वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत सारे आश्चर्यों के बावजूद मानव ने अभी तक इस विराट् सत्ता की किंचिद् मात्र भी जानकारी प्राप्त नहीं की है। सबसे विनम्र वैज्ञानिक, जो सबसे महान् भी हैं, इसे स्वीकार करते हैं। हम एक चन्द्रमा तक पहुँचे हैं। हमारे सौर मण्डल में और बहुत सारे नक्षत्र हैं। और ऐसी मान्यता है कि ऐसे लाखों सौर मण्डल हैं। यह बोध कि सापेक्ष ज्ञान जितना कुछ उद्घाटित करता है उससे कहीं अधिक आवरित करता है, हमें विनम्र बनाता है।

सत्यान्वेषी साधक यह समझकर कि भौतिक विज्ञान के माध्यम से मन के द्वारा उद्घाटित ज्ञान का क्षेत्र सीमित है, आन्तर्जगत के विज्ञान की ओर मुड़ता है। इस क्षेत्र में अग्रसर होने में समर्थ होने के लिए मनरूपी यंत्र को उसकी इन्द्रियों के माध्यम से सतत् बहिर्जगत् की ओर जाने की आदत से छुटकारा दिलाना आवश्यक है। यह कथन चाहे आश्चर्यजनक लगे किन्तु अनुसन्धान के इस नये क्षेत्र में इन्द्रियाँ किसी काम की नहीं हैं। पूर्ववर्णित कठोर अनुशासन (शम अर्थात् मन का संयम, तथा दम अर्थात् इन्द्रिय संयम) के द्वारा मन पवित्र होता है। पवित्र मन को एकाग्र करना आसान है। और 'पवित्रता इन्द्रिय-विषयों की दासता से मन की मुक्ति के फलस्वरूप प्राप्त होती है। ऐसा शुद्ध मन ही योगी के लिए उपयुक्त यंत्र बन सकता है। वह ऐसे मन को अपनी ही सत्ता की गहराईयों के अनुसन्धान में लगा सकता है। अर्थात् पवित्र मन में ज्ञान हस्तामलकवत् स्पष्ट होता है।' (विवेकचूड़ामणि-१८१)

पथ लम्बा और कठिन है, लेकिन लक्ष्य अत्यन्त श्लाघनीय है। प्रगति का प्रत्येक इंच यह सिद्ध करता है कि यह सारा प्रयास कितना सार्थक है। आज मानव अपने ही प्रयासों द्वारा उत्पन्न शक्तियों से भयभीत है तथा अपनी ही वैज्ञानिक गवेषणाओं के परिणामों से आशंकित है। उसे भान है कि ये सारी उपलब्धियाँ संकीर्ण बुद्धि वाले व्यक्तियों के हाथों पड़ सकती हैं; ऐसी बुद्धि वाला एक ही व्यक्ति उन्माद के एक दौर में विज्ञान और तकनीकी द्वारा निर्मित इस सारे जगमगाते संसार को नष्ट कर सकता है। संहारकारी शक्तिशाली अस्त्रों के भय ने संसार में शान्ति को पिछले कुछ वर्षों से नाजुक सन्तुलन में बनाये रखा है। मानव किसी भी क्षण इस पृथ्वी से मानव अस्तित्व का विनाश कर सकता है।

तब फिर हमारी आशा किसमें है? रहस्य यह है : हमें हमारी समस्त गतिविधियों में, वे चाहे आध्यात्मिक कहलाएँ या सांसारिक, मन की भूमिका को पहचानना होगा। जीवन को सार्थक एवं सफल बनाने के लिए मन पर बहुत नियंत्रण रखना होगा। तथ्य तो यह है कि पवित्र मन के द्वारा ही सत्य का स्वरूप हृदयंगम किया जा सकता है। इसे ध्यान में रखकर सभी समझदार

व्यक्तियों को अपने मनों को सही दिशा में, अर्थात् उस सत्य की ओर परिचालित करना चाहिए। यह प्रयास उद्देश्यहीन नहीं है। इसका उद्देश्य है : अपने ही स्वरूपभूत सत्य का साक्षात्कार।

आईए, हम भौतिक प्रकाश की कार्यप्रणाली को समझने का प्रयत्न करें। आप इस तथ्य से परिचित हैं कि प्रकाश में किसी वस्तु को भेदने की शक्ति बहुत कम है। जब वैज्ञानिक पद्धति द्वारा उसके स्पन्दनों को बढ़ा दिया जाता है तो वे ही प्रकाश की किरणें एक्स-रे जैसी अधिक से अधिक भेदने की क्षमता अर्जित कर लेती हैं। यही बात मन के सम्बन्ध में भी देखी जा सकती है। सामान्य अप्रशिक्षित मन अनियंत्रित और विक्षिप्त होने के कारण अत्यन्त मूढ़ होता है। वह केवल स्थूल सतही अनुभवों को ही देख सकता है। वह विषयों की गहराई को नहीं समझ पाता और न ही प्रतीति और सत्य में अन्तर कर पाता है। सामान्य अप्रशिक्षित मन का यह स्वरूप है। लेकिन हम जानते हैं कि यही मन तीक्ष्ण और गहरी भेदनशक्ति से सम्पन्न हो सकता है। ऐसे मस्तिष्कयुक्त व्यक्ति पहले हो चुके हैं और उन्होंने हमारे चारों ओर के बाह्य जगत् के विषय में विधिवत् अन्वेषण किया है। इसी प्रकार अन्तर्जगत् में भी मानसिक प्रशिक्षण मानव को स्वयं के देह की क्रियात्मक एवं संवेदात्मक प्रणालियों को नियन्त्रित करने की क्षमता प्रदान करता है। प्रशिक्षित मन युक्ति एवं कल्पना का भी नियमन कर सकता है। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में जो सफलताएँ हमें प्राप्त हुई हैं वे मन को एक दिशा-विशेष में प्रशिक्षित करने का ही फल है। इस प्रकार यह सब हमारी बुद्धि के दायरे में आ जाती हैं।

इसके अतिरिक्त और कौनसा प्रशिक्षण मन के लिए सम्भव है? ऐसे प्रशिक्षण से हम किस परिणाम की आशा करते हैं? वेदान्त का कथन है कि मन को दृश्य जगत् के पीछे विद्यमान सत्ता का साक्षात्कार करने में, सभी प्रतीतियों के पीछे विद्यमान सत्य को जानने में, परिवर्तनशील नानात्व के पीछे के एकत्व को खोजने में समर्थ बनाया जा सकता है और यह सचमुच सबसे रोचक एवं आकर्षक चुनौती है जिसे मानव मन स्वीकार कर सकता है।

(१२)

अद्वैत वेदान्त में ध्यान

स्वामी घनानन्द

प्रत्येक धर्म के चार अंग हैं : पुराण, क्रिया-अनुष्ठान, सिद्धान्त और उच्चतर आध्यात्मिक साधना। सभी प्रकार की साधनाओं में ध्यान सर्वोच्च है। इसमें मानवात्मा ईश्वरीय लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है तथा अन्ततोगत्वा वह जीवात्मा का परम सत्ता के रूप में साक्षात्कार करती है। अत: साधना के रूप में ध्यान का मूल्य क्रिया-अनुष्ठानों से अधिक है। पुराण एवं दर्शन का अध्ययन करते समय तथा क्रिया-अनुष्ठानादि की साधना के समय मानव-मन में भगवद्भाव बना रहता है। लेकिन ध्यान में यह भाव तीव्रतम और गहनतम हो जाता है तथा अन्त में चरम ज्ञानालोक की प्राप्ति होने पर स्वयं अपना ही अतिक्रमण कर डालता है।

बहुत से सच्चे और ईमानदार व्यक्ति यह मानते हैं कि यदि वे ईश्वर चिन्तन के लिए बैठें तो वे ध्यान कर सकेंगे और ध्यान का फल पा सकेंगे। अत: वे यह सोचते हैं कि उन्हें ऐसा करने के लिए पर्याप्त समय की आवश्यकता भर है। यौवन अथवा प्रौढ़ वय में उनका यह विश्वास होता है कि कई वर्षों बाद एक दिन ऐसा आएगा जब वे कर्म के झमेलों से छुटकारा पा जाएँगे और तब प्रतिदिन कुछ समय भगवच्चिन्तन में बिताएँगे। लेकिन ऐसे लोगों के लिए आध्यात्मिक सहायता और उचित मार्गदर्शन के बावजूद सामान्यत: यह कार्य अत्यन्त कठिन सिद्ध होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में प्रारम्भ कर प्रौढ़ावस्था तक मन का प्रशिक्षण

किये जाने पर ही वह जीवन के अन्तिम काल में ध्यान करने में समर्थ हो सकेगा।

हम जानते हैं कि सभी प्रकार का प्रशिक्षण – चाहे देह के विकास और वृद्धि के लिए शारीरिक हो अथवा बुद्धि, हृदय एवं इच्छा शक्ति की वृद्धि के लिए मानसिक – सभी के पीछे एक विज्ञान है। अत: ध्यान का भी एक विज्ञान है जिसका अध्ययन और आकलन भारतीय आर्यों ने बहुत पुरातन काल से ही प्रारम्भ कर दिया था तथा वह अन्य जातियों की तुलना में चरमोत्कर्ष को प्राप्त हो चुका था।

गहनतम ध्यानप्रवणता और आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति से युक्त उपनिषदों के काल के भी पूर्व ब्राह्मण और संहिता काल में भी क्रिया-अनुष्ठानों के फलस्वरूप अनुष्ठानकर्ता प्राय: आराध्य देव के साथ सम्पर्क स्थापित कर पाता था। औपनिषदीय काल में यह भाव गहनतर होता गया और विशेषकर उपनिषदों के मंत्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा परिपुष्ट हुआ। इसप्रकार यह विज्ञान परिवर्धित और विकसित हुआ और कुछ इने-गिने लोगों के हाथों में रहते हुए भी जीवित बना रहा। वेदों के परवर्ती काल में इसके महानतम आचार्य श्रीकृष्ण को हम उनके शिष्य अर्जुन को ध्यानमार्ग का उपदेश देते पाते हैं। और इसके भी बाद के काल में कपिल और पतञ्जलि ने ध्यान के मनोवैज्ञानिक एवं योगिक पक्ष का विकास और प्रतिपादन किया। बौद्धयुग के बाद के काल में शंकर, रामानुज, मध्व आदि अन्य आचार्यों ने अपने भाष्यों में अपने अपने ढंग से ध्यान के विज्ञान का प्रतिपादन किया।

भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग और राजयोग, इनमें से किसी का भी व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार चयन क्यों न करे, ध्यान सभी साधना पद्धतियों का प्रौढ़तर एवं अधिक विकसित रूप है। व्यक्ति शास्त्रों और दर्शनों के उपदेश सुनता है, उन्हें समझने का प्रयत्न करता है तथा उसमें निहित सत्यों पर मनन करता है। लेकिन जब वह उनकी साधना करता है तो ध्यान उसकी साधनाओं का एक महत्त्वपूर्ण अंग होता है। फिर, जब व्यक्ति समर्पण-बुद्धि से सब कर्म करता है तो उसका मन धीरे-धीरे, किन्तु निश्चित रूप से, भगवच्चिन्तन से

पूर्ण हो जाता है जिसे वह अपने कर्म समर्पित करता है। कालान्तर में उसकी चेतना भगवद्भाव से इतनी रंजित हो जाती है कि ध्यान उसके लिए स्वाभाविक हो जाता है। यही बात भक्ति-साधना में भी होती है और राजयोग द्वारा प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक एवं योगिक साधनाओं में भी। जिस दिन से हमने आध्यात्मिक जीवन के स्वरूप के विषय में संकेत प्राप्त किया, उस दिन से लेकर ज्ञानालोक या साक्षात्कार तक साधन-जीवन यापन के हमारे प्रयास मानो समकेन्द्रित वृत्त के सदृश हैं जो तब तक अधिकाधिक सिकुड़ते जाते हैं जब तक उनका केन्द्र-बिन्दु – ईश्वर या सत्य – प्राप्त नहीं हो जाता।

वेदान्त में रामानुजाचार्य ने ध्यान की तुलना एक पात्र से दूसरे पात्र में अबाध और अखण्ड प्रवाहमान तेल से की है।

वेदान्त का अध्ययन और साधन तीन प्रणालियों में होता है। वे हैं – अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत। अद्वैत वेदान्त में ध्यान की प्रक्रिया सांख्य से मिलती जुलती है। अन्तर केवल इतना है कि सांख्य असंख्य पुरुष या असंख्य आत्माएँ मानता है जबकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार पुरुष याने चरम सत्ता एक है। सांख्य की साधना पद्धति में प्रकृति एवं उसकी विकृतियाँ देह, मन और अहंकार को पृथक् कर आध्यात्मिक चैतन्य सत्ता, पुरुष तक पहुँचा जाता है; जबकि अद्वैत वेदान्त में देह, मन, अहंकार एवं जगत् – जो केवल व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है – की परमार्थिक सत्ता को अस्वीकार कर ब्रह्म कहलाने वाली एक अद्वितीय सत्ता को प्राप्त किया जाता है जो स्वरूपत: मानवात्मा के साथ अभिन्न है।

अद्वैतपरक ध्यान अखण्ड का ध्यान है। चूँकि अखण्ड नाम और रूप से परे है अत: यह ध्यान सबसे कठिन है। यह केवल शून्य स्थान, नीला आकाश अथवा असीम सागर आदि की तरह निराकार का चिन्तन मात्र नहीं है। इससे अनन्त का ध्यान नहीं हो जाता। यह केवल महाकाश कहलाने वाली भौतिक अनन्तता का चिन्तन है। इससे उच्चतर और सूक्ष्मतर प्रकार की अनन्तता है जो चित्ताकाश कहलाती है। यह चित्त या मन का आकाश है जिससे स्वप्नों की तरह असंख्य विचारसमूह उत्पन्न होते हैं। लेकिन अद्वैत

का अनन्त, चिदाकाश नामक आध्यात्मिक अनन्त सत्ता, अखण्ड चैतन्य, समस्त नाम रूपादि के परे का महान् शून्य है। इसमें उन सभी वस्तुओं का निषेध हो जाता है जिनकी कल्पना, धारणा या अभिव्यक्ति सम्भव है, तथा उपनिषदों में इसका वर्णन नेति-नेति शब्दों द्वारा किया गया है। यह महाकाश और चित्ताकाश से अनन्तगुना उच्चतर है क्योंकि जगत् और चित्त दोनों सीमित हैं जबकि अनन्त आत्मा या ब्रह्म या चैतन्य वास्तविक अनन्त हैं और यही अद्वैत का सच्चा अनन्त है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि अद्वैतपरक ध्यान उन लोगों के लिए भी निश्चित रूप से कठिन सिद्ध होगा जिन्हें आत्मा और परमात्मा के, जीव और ब्रह्म के एकत्व की बौद्धिक धारणा हो चुकी है।

अत: वेदान्त में अद्वैतपरक साधकों के लिए चार प्रारम्भिक साधनाओं (साधन चतुष्टय) का निर्देश दिया गया है जिनके अनुष्ठान बिना अद्वैत साधक ध्यान में सफलता नहीं पा सकते। सर्वप्रथम और सबसे महत्त्वपूर्ण है, नित्यानित्य विवेक। साधक को दिन-रात अपरिवर्तनशील, नित्य सत्य का चिन्तन करना चाहिए जो परिवर्तनशील सत्य से भिन्न है। उसे सर्वदा विश्व तथा उसकी घटनाओं के व्यावहारिक सत्य का परमार्थिक सत्य से आमूल पृथकता का विवेक करना चाहिए। वेदान्त का यह साहसपूर्ण उद्घोष है कि नानाविध रूप रंग वाला यह बहुरूपी जगत् ही अनित्य नहीं है अपितु मानव के देह, मन और अहंकार भी अनित्य हैं। यह शिक्षा ऋषियों की अनुभूति पर आधारित है।

नित्यानित्य का यह विवेक भी साधक को अद्वैतपरक ध्यान में सहायता करने एवं अद्वैत के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पर्याप्त नहीं है। मानव इस संसार में रहता है अत: ज्ञान-साधना की बाधाओं से उसके मन की रक्षा के लिए तीन और साधनाओं का निर्देश दिया गया है। उनमें से एक है षट्सम्पत्ति की साधना जो निम्नोक्त है :

१. उपनिषद एवं वेदान्त के अन्य उपदेशों के अलावा सभी प्रकार की विषयचिन्ता के प्रति मन को नियन्त्रित करना (शम)।

२. उपनिषद एवं वेदान्त विषयक उपदेशों को छोड़ अन्य सभी विषयों से ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का संयम (दम)।

३. पूर्व परिचित इन्द्रिय विषयों से इन्द्रियों को उपरत करना (उपरति)।

४. सुख-दुःख, लाभ-हानि, सम्पद-विपद्, मान-अपमान आदि द्वन्द्वात्मक परिस्थितियों में अविचलित बने रहना (तितिक्षा)।

५. मन को सर्वदा उपनिषद् एवं अन्य वेदान्तोपदेशों के श्रवण-मनन में समाहित या एकाग्र करना तथा विनम्रता, सरलता, भक्ति, पवित्रता एवं गुरुसेवा आदि सद्गुणों का अभ्यास करना (समाधान)।

६. ईश्वर, उपनिषदों एवं वेदान्तोपदेशों, गुरु एवं सत्य के साक्षात्कार में स्वयं की क्षमता में श्रद्धा-विश्वास करना (श्रद्धा)।

प्रारम्भिक साधनाओं के अनुष्ठान में इन षड्गुणों के अभ्यास का दूसरा स्थान है।

तीसरा है, इस संसार एवं स्वर्ग अर्थात् उस अतीन्द्रिय जगत् में, जहाँ जीव सूक्ष्म सुख-भोगों का आस्वादन करता है, कर्मफल भोग की वासना का त्याग। अद्वैत वेदान्ती ज्ञान चाहता है और ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की परवाह नहीं करता।

चतुर्थ और अन्तिम में साधक को देह, मन, अहंकार और अविद्या के बन्धनों से ज्ञानालोक प्राप्त कर मुक्त होने की तीव्र पिपासा युक्त दैवी असन्तोष पैदा करने का आव्हान किया गया है (मुमुक्षुत्व)।

ये साधनाएँ मन को मानव की विशुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा, तथा आत्मा और परमात्मा के एकत्व पर प्रतिदिन दृढ़ता और लगनपूर्वक ध्यान के लिए सक्षम बनाती हैं।

अद्वैतपरक ध्यान में साधकों की सहायता हेतु वेदान्त परमार्थिक सत्य की एक निर्विवाद और अविवादास्पद परिभाषा प्रस्तुत करता है। परमसत्य वह है जो भूत, भविष्य और वर्तमान सभी कालों में अपरिवर्तित, अबाधित बना रहे। यह परिभाषा सत्य को सीधे मानव हृदय के भीतर ले आती है, जैसा कि हम अभी देखेंगे।

सत्य के स्वरूप को समझने के लिए भारत के ऋषियों ने सर्वप्रथम बहिर्जगत् का अध्ययन किया। उन्होंने देखा कि वस्तुएँ कालक्रम से परिवर्तित हो जाती है। वस्तुएँ पहले अपनी सूक्ष्म अवस्था में थीं; उसके बाद उनकी वर्तमान (स्थूल) स्थिति हुई और इसके बाद पुनः सूक्ष्मावस्था को प्राप्त होंगी। पृथक् वस्तुओं पर लागू होने वाला यह नियम समग्र ब्रह्माण्ड पर लागू होता है। विश्व ब्रह्माण्ड भी पहले सूक्ष्मावस्था में था जिससे वह अपनी वर्तमान अवस्था को प्राप्त हुआ और भविष्य में वह पुन: अपनी सूक्ष्मावस्था को प्राप्त हो जाएगा। तात्पर्य यह कि हम जिसे देख रहे हैं, वह स्थायी नहीं है। लेकिन हमें याद रखना चाहिए कि पदार्थ चाहे कितना भी परिवर्तित क्यों न हो, वह सत्ताहीन (नष्ट) कभी नहीं होता। दूसरे शब्दों में, अस्तित्व की धारणा कभी भी हमारे मन से दूर नहीं की जा सकती।

पुरातन ऋषियों ने यह भी पता लगाया कि बहिर्जगत् ही नहीं अपितु उसका द्रष्टा भी कालानुसार परिवर्तित होता है। उसके देह और मन समय के साथ परिवर्तित हो जाते हैं। यही नहीं, दिन-रात के चौबीस घण्टों में भी वह एक सा नहीं रहता। दिन में वह जागता है लेकिन सोने पर वह एक नितान्त भिन्न अवस्था में प्रवेश कर स्वप्न देखता है। और जब स्वप्नविहीन सुषुप्ति में रहता है तब तो वह जाग्रत और स्वप्न दोनों ही से भिन्न अवस्था में होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि संसार के बाह्य क्रियाकलापों में ही परिवर्तन नहीं होता बल्कि उसके द्रष्टा पक्ष, मानव में भी परिवर्तन होते हैं।

बाह्य जगत् के पदार्थों के अध्ययन से अन्ततः विज्ञान का विकास और विस्तार हुआ। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की विभिन्न अवस्थाओं में मानव चेतना के समक्ष उपस्थित घटनाओं, तथा इन तीन अवस्थाओं के मानवात्मा के साथ सम्बन्ध के अध्ययन से अद्वैत दर्शन और धर्म का विकास हुआ।

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति – मानव को ज्ञात चेतना की इन तीन अवस्थाओं का अध्ययन वेदान्त की अपनी एक विशेषता है। वेदान्त का दावा है कि इन तीनों अवस्थाओं में मानव के व्यक्तित्व का अध्ययन किये बिना मानव विषयक कोई भी अध्ययन सम्पूर्ण नहीं हो सकता। ऐसा अध्ययन

करने पर हम यह पाते हैं कि जाग्रतावस्था में यह जगत् वास्तविक, ठोस तथा पञ्चेन्द्रियों द्वारा गोचर प्रतीत होता है। स्वप्नावस्था में जगत् सूक्ष्म और हल्का सा हो जाता है। और सुषुप्ति में मानव न कुछ देखता है और न ही उसे कोई ज्ञान होता है। जगत् पूरी तरह विलुप्त हो जाता है और व्यक्ति को यह भी भान नहीं होता कि वह सो रहा है। लेकिन प्रात:काल जागने पर उसे अच्छी या बुरी, जैसी भी नींद आयी थी, याद रहता है। अब, प्रत्येक स्मरण, क्रिया प्रत्याभिज्ञा या पुन: जानने की क्रिया है। इसका अर्थ यह हुआ कि मानव के जाने बिना भी सुषुप्ति में अनुभव हुआ था। इस अनुभव का अनुभवकर्ता कौन है?

उपनिषदों की घोषणा है कि सुषुप्ति का ज्ञाता या अनुभवकर्ता स्वयं चैतन्य ही है। वह मन और अहंकार की सहायता के बिना – क्योंकि वे सुषुप्ति में कार्यरत नहीं होते – निद्रा का अंकन करता है। जिस प्रकार रात को हमारे गहरी निद्रा में सोये रहने पर भी थर्मामीटर तापमान तथा बेरोमीटर नभीय दबाव का अंकन करते हैं उसी प्रकार चैतन्य निद्रावस्था का अनुलेखन करता है।

हमारी जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में चेतना विद्यमान रहती है लेकिन तब वह प्रत्यक्षीकरण एवं ज्ञानार्जन के लिए मन और अहंकार की सहायता लेती है। जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं में मन और अहंकार उसकी उपाधियाँ है। जाग्रतावस्था में हम अपने को तथा अपने सुख-दु:ख, हर्ष-शोक आदि को जानते हैं। हमें स्वप्नावस्था में भी इनका ज्ञान होता है लेकिन स्वप्नावस्था के देश-काल एवं कार्य-कारण बोध जाग्रतावस्था के बोध से भिन्न प्रकार के होते हैं। जाग्रतावस्था में मेरी पहचान अमुक व्यक्ति के रूप में होती है। स्वप्नावस्था में मैं ऐसी अनेक वस्तुएँ देखता हूँ जो जाग्रतावस्था में नहीं दिखाई देतीं। वहाँ जाग्रतावस्था का अहंकार विलुप्त हो जाता है और उसका स्थान एक अन्य अहंकार ले लेता है। फिर भी मैं जानता हूँ कि कोई दूसरा व्यक्ति मेरे लिए स्वप्न नहीं देखता, मैं ही हूँ जो स्वप्न देखता हूँ और पुन: जागता हूँ। सुषुप्ति में कुछ भी दृश्यगोचर नहीं होता है और वहाँ न स्वप्न का अहंकार रहता है और न जाग्रत् का। फिर भी जागने पर हम सभी जाग्रत्,

स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में हमारे व्यक्तित्व के एकत्व और पहचान को अनायास ही जान लेते हैं। इस चैतन्य के अध्ययन को हमारे जन्म से लेकर वृद्धावस्था के काल पर लागू करने पर हम पाएँगे कि हमारा ही जन्म हुआ था, हम ही अभी जीवित हैं तथा हम ही वृद्ध होंगे और मृत्यु को प्राप्त होंगे।

मानव व्यक्तित्व की एक पहचान और निरन्तरता की यह धारणा तभी सम्भव है जब जीवन की सभी अवस्थाओं और चेतना के सभी स्तरों के पार्श्व में या आधार भूमि के रूप में कोई सत्ता विद्यमान हो। विशुद्ध चैतन्य ही यह आधार है। यह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की तीन अवस्थाओं के पीछे विद्यमान रहता है। अथवा यों कहें कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के माध्यम से यह अभिव्यक्त होता है। यह बाल्यकाल, यौवन, प्रौढावस्था और वृद्धावस्था – जीवन की इन अवस्थाओं के पीछे भी विद्यमान है। यही नहीं, यह अनादिकाल से हमारे पूर्व जन्मों में विद्यमान था और यह सारे भविष्य में विद्यमान रहेगा। यह आत्मा है जो समग्र अनुभवों की आधारभूत सत्ता है। "विशुद्ध चैतन्य वह है जिसका प्रतिबिम्ब जड़ पदार्थ में दिखाई देता है, जिससे मानव सामान्यतः परिचित है तथा जो देह, मन की गतिविधियों से सम्बद्ध व्यक्तिगत चेतना (व्यष्टि चैतन्य) है।" मान लो, किसी ने मुझे मारा और मुझे पीड़ा का भान हुआ। यह व्यक्तिगत चेतना की स्थिति हुई। यह एक ग्रन्थि है। इसमें से यदि मैं देह और मन का योगदान निकाल दूँ तो जो चेतना बचती है वह सभी मनोव्यापारों के साथ संयुक्त रहती है। इसे पाश्चात्य दार्शनिकों में सर्वप्रथम प्लोटिनस ने पहचाना था और 'पाराकोलोन्थेसिस' याने मनोव्यापारों के साथ रहने वाली आत्मा की संज्ञा दी थी। यह चैतन्य ज्योति है जो मानसिक और भौतिक दोनों ही जगतों में अभिव्यक्त होती है। "यह विशुद्ध ज्ञान की शक्ति अपरिवर्तनीय होने के कारण प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकती जो कि मन का क्षेत्र है।" अतः विशुद्ध चैतन्य मनोव्यापारों से भिन्न है। यह कोई मात्र प्रत्यय अथवा अमूर्त भाव नहीं है बल्कि सत्य है; वस्तुतः मानव द्वारा प्राप्य सर्वोच्च सत्य।

इस विशुद्ध चैतन्य को सांख्य दर्शन में पुरुष तथा वेदान्त में आत्मा कहा गया है। उसके तथा उसकी प्रकाशिका शक्ति – देह और मन की क्रियाओं को अभिव्यक्त करने की शक्ति – के बिना ये क्रियाएँ अज्ञात और अचेतन रूप में होती रहेंगी। जड़ पदार्थ के विपरीत यह अनादि, अनन्त, अविक्रिय, स्थिर, छायारहित, अपरिवर्तनशील, प्रकाश स्वरूप है। यह मानव का चैतन्यांश है, उसका अजर, अमर, आत्मा है, उसका सारतत्त्व है। शंकराचार्य कहते हैं, "आत्मा नित्यचैतन्य 'ज्ञ' है क्योंकि वह अजन्मा है। जिस प्रकार प्रकाश और ऊष्णता अग्नि के स्वरूप हैं उसी प्रकार अनन्त चैतन्य आत्मा का स्वरूप है।" (ब्रह्मसूत्र भाष्य, २.३.१९) उसका साक्षात्कार करते ही साधक को उसके ब्रह्म के साथ एकत्व की अपरोक्षानुभूति होगी।

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा साक्षी रहता है। *लेकिन हमारा लक्ष्य किसी भी साक्ष्य वस्तु के बिना विशुद्ध आत्मा – स्वरुपतः अपने आप प्रकाशित, उपाधियों से अनावरित विशुद्ध आत्मा होना है।*

तीन अवस्थाओं के विश्लेषण से उपर्युक्त बातें जानी जा सकती हैं। आत्मा और उसके ब्रह्म के साथ एकत्व की अनुभूति के लिए प्रकृति के आवरण के भेदन का प्रयत्न, पहले आत्मा के ध्यान और उसके बाद ब्रह्म के साथ उसके एकत्व के ध्यान द्वारा, तब तक किया जाना चाहिए जब तक अन्ततः इस एकत्व की अनुभूति न हो जावे। यदि यह उपाय कठिन प्रतीत हो तो सगुण ईश्वर के और यदि आवश्यक हो तो साकार, सगुण ईश्वर के ध्यान से प्रारम्भ करना चाहिए और क्रमशः अद्वैतपद्धति को अंगीकार करना चाहिए।

अद्वैतवाद की ध्यान पद्धति के लिए किसी धर्म-विशेष के सिद्धान्त अथवा मत को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। उसका सिद्धान्त तथा दृष्टिकोण वायु और जल जैसी प्रकृति माता की देनों की तरह सबके लिए हैं।

अद्वैतवाद सभी पन्थों और धर्मों को स्वीकार करता है और साथ ही उनके आगे भी जाता है। □□□

(१३)

ध्यान का मार्ग

स्वामी पवित्रानन्द

पाश्चात्य लोगों के एक वर्ग में ध्यान के विषय में बहुत रुचि हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि उनमें से कुछ को परम्परागत धार्मिक जीवन् से उनकी वाञ्छित वस्तु नहीं मिलती। वे ऐसी कोई नयी वस्तु चाहते हैं जिससे उनकी आध्यात्मिक पिपासा मिट सके। यह अच्छा है। लेकिन जब तुम ऐसी किसी वस्तु को, जो तुम्हारी नहीं है, जो एक भिन्न संस्कृति, भिन्न पृष्ठभूमि वाली भिन्न सभ्यता की है, अंगीकार करते हो या करना चाहते हो तो इसमें थोड़ा खतरा है। यह सम्भव है कि तुम्हें सही वस्तु न मिले।

पाश्चात्य ईसाई धर्म, यहूदी धर्म और इस्लाम के सभी लोग प्रार्थना के न्यूनाधिक अभ्यस्त हैं। वे ध्यान के इतने अभ्यस्त नहीं हैं, जो कि मूलत: ध्यान और प्रार्थना एक ही हैं। जब तुम कहते हो "आओ हम ध्यान करें", तो यह कथन, "आओ हम प्रार्थना करें", से थोड़ा भिन्न है। एक दृष्टि से प्रार्थना आसान है : तुम किसी वस्तु के लिए प्रार्थना कर सकते हो; तुम भक्ति के लिए प्रार्थना कर सकते हो। लेकिन जब तुम ध्यान की बात करते हो तो यह नितान्त भिन्न बात है और इसकी पृष्ठभूमि भिन्न है।

मेरा उद्देश्य तुम्हें यह चेतावनी देना है कि तुम्हें इस विषय में स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए। "यह प्राच्य का दर्शन है, आओ हम ध्यान करें' – यह कहकर तुम्हें भाव विभोर नहीं होना चाहिए। तुम्हें यह जानना चाहिए कि ध्यान क्या है और उसके गुणों के बारे में अनभिज्ञ नहीं होना चाहिए।

यह तुम्हारा ही नहीं, सभी का सामान्य दोष है।

भारत में इस तरह की बात पिछली सदी के प्रारम्भ में हुई थी। पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त करने पर लोग यह सोचने लगे कि हिन्दू धर्म के पास उन्हें देने योग्य कुछ नहीं है। वे अपने धार्मिक जीवन का गठन ईसाई धर्म के अनुसार करेंगे तथा उन्होंने सोचा कि यह उनके जीवन का महान त्राणकारी पक्ष सिद्ध होगा। उस समय लोगों में यह सोचने का धैर्य नहीं था कि वह एक भिन्न सभ्यता से है तथा उनके लिए कौनसी वस्तु अधिक उपयुक्त होगी। ये दोनों ही दृष्टिकोण बुरे हैं तथा ऐसी मानवीय दुर्बलता विश्व में सर्वत्र विद्यमान है।

अत: मैं जोर देकर कहना चाहूँगा कि तुम्हें भावोन्माद का शिकार नहीं होना चाहिए। शान्तिपूर्वक वस्तुओं का अवलोकन करो। प्रत्येक वस्तु में अच्छे और बुरे पक्ष होते हैं। हाँ, ध्यान करना अच्छा है लेकिन तुम्हें पता होना चाहिए कि तुम क्या कर रहे हो। ध्यान पर अनेक पुस्तकें हैं। स्वाभाविक ही लोग उनसे ध्यान के बारे में एक धारणा बना लेते हैं। और उसके बाद वे ध्यान पर एक पुस्तक लिख डालते हैं। न तो उन्होंने स्वयं ध्यान किया है और न ही ध्याननिष्ठ जीवन को गम्भीरतापूर्वक अंगीकार किया है। स्वाभाविक ही इसमें महान् खतरा है क्योंकि वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं। उनके कुछ विवरण सही हो सकते हैं, लेकिन वे मूल तथ्यों को, जो आवश्यक हैं, नहीं बताते। प्राय: ये बातें पुस्तकों से प्राप्त नहीं होतीं।

राजनीति में भी सर्वदा पत्राचार से बातें नहीं सुलझतीं। फ्रान्स, इण्डोनेशिया, बर्मा और भारत से लोगों को व्यक्तिगत वार्तालाप द्वारा समस्याएँ सुलझाने हेतु वाशिंगटन आना पड़ता है। पत्र-व्यवहार मात्र से समस्याएँ नहीं सुलझतीं।

इसी प्रकार तुम्हारे लिए महत्त्वपूर्ण धार्मिक जीवन के नाजुक विषयों तथा साधना की सारभूत बातों को तुम पुस्तकों से प्राप्त नहीं कर सकते, विशेषकर जब वे ऐसे व्यक्तियों द्वारा लिखी गयी हों जो यह नहीं जानते

कि वे क्या कर रहे हैं। तुम्हारे निराश होने का बहुत बड़ा खतरा है। तुम्हें या तो कुछ भी हाथ नहीं लगेगा या तुम साधना में लगे नहीं रह सकोगे, क्योंकि तुमने उसे क्षणिक भावुकता अथवा जिज्ञासावश स्वीकार किया था। तुम कोरी जिज्ञासा के आधार पर अथवा केवल बतौर प्रयोग जीवन गठन नहीं कर सकते। अत: इस दृष्टि से भी तुम अपने आध्यात्मिक जीवन के लिए सहायता नहीं पा सकते। यह थोड़ा खतरनाक है। मैंने ध्यान के विषय में लिखी गई अनेक अंग्रेजी पुस्तकें देखी हैं। मैंने उनमें ऐसा कुछ भी नहीं पाया जो सचमुच उपयोगी हो अथवा जिसकी सहायता से लोग आध्यात्मिक प्रयास में लगे रह सकें। यह हो सकता है कि थोड़ी-बहुत जिज्ञासापूर्ति हो जाए।

अब, ध्यान की समस्याएँ क्या हैं? सर्वप्रथम, ध्यान का विषय क्या होना चाहिए? किसका ध्यान किया जाए? और दूसरी बात है; क्या तुम्हें ध्यान में रुचि है? ये दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं। तुम ऐसे किसी भी विषय पर मन एकाग्र नहीं कर सकते जिसमें तुम्हारी रुचि न हो। तुम यह नहीं कह सकते कि तुम विषय-विशेष पर रुचि हो या न हो ध्यान कर लोगे। रुचि न रहने पर तुम ध्यान नहीं कर पाओगे। वह सम्भव नहीं है। और उसका प्रयास व्यर्थ होगा। वह केवल मानसिक कुश्ती के समान होगा और तुम्हारे लिए क्षतिकारक हो सकता है। तुम यह नहीं जानते कि तुम क्या कर रहे हो, तुम्हारी रुचि का विषय भी नहीं है और फिर भी लगभग एक घण्टे तक तुम ध्यान कर रहे हो। यह क्या कर रहे हो? मेरे अनुसार यह आग से खेलना है।

अत: दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम, ध्यान का विषय और द्वितीय, तुम्हारी ध्यान में रुचि उपजी है या नहीं। ध्यान में रुचि कैसे उपजती है? ध्यान का विषय कैसे निश्चित होता है? यह व्यक्ति के स्वभाव और अभिरुचि पर निर्भर करता है और इसके लिए लम्बे समय तक निरीक्षण आवश्यक है। यह पुस्तकों से प्राप्त नहीं हो सकता। सौभाग्य से ध्यान के अनेक विषय हो सकते हैं।

योग विषयक अपने अधिकृत ग्रन्थ में पतञ्जलि बड़ी समझदारी से अपनी बात कहते हुए बहुत से विकल्प देते हैं। उनका कथन है कि हाँ, तुम ध्यान की सहायता से भगवान् की उपासना कर सकते हो। यह एक पद्धति है। परन्तु (समस्या तो यह है कि) तुम्हें ईश्वर की कोई धारणा नहीं है। और है भी तो बहुत अस्पष्ट। तुम प्रार्थना तो कर सकते हो पर अस्पष्ट धारणा से ध्यान नहीं कर सकते।

पतञ्जलि व्यवहार कुशल हैं। वे कहते हैं, "हाँ, कुछ पवित्र शब्द हैं जो ईश्वर के प्रतीक हैं। तुम प्रतीकों का ध्यान कर सकते हो; उन शब्दों का जप कर सकते हो। उस जप से ईश्वर का भाव तुम्हारे मन में उदित होगा। तुम उस भाव का ध्यान कर सकते हो।" वे कुछ व्यावहारिक संकेत तथा ध्यान के लिए कुछ निश्चित विषय देते हैं। अन्य धर्मावलम्बी उन निर्देशों में संशोधन कर सकते हैं। हाँ, किसी धार्मिक भाव, किसी प्रार्थना के वाक्यों का ध्यान करो। मुझे कोई कारण नजर नहीं आता कि यह सफल न हो। यह तुम्हारा है, तुम्हारे संस्कारों एवं परिवेश का है। परमात्मा के शब्दप्रतीक का ध्यान करो।

अगर यह भी न कर सको, इसमें भी तुम्हें रुचि न हो तो कोई बात नहीं; अन्य विकल्प भी हैं। दूसरा कार्य जो तुम कर सकते हो वह है बुद्ध, ईसा जैसे किसी जगद्गुरु का ध्यान। इस पद्धति में ध्यान के लिए एक ठोस विषय रहता है। हाँ, ईसा का ध्यान करो अथवा बुद्ध का ध्यान करो या किसी भी अवतार अथवा सन्त पुरुष का ध्यान करो जो तुम्हें अच्छा लगे। इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव क्या पड़ता है? जब तुम बुद्ध या ईसा का ध्यान करते हो तो ईसा-सम सद्गुण तुममें सञ्चरित होते है। दिवा-रात्रि ईसा अथवा बुद्ध के विचार में मग्न रहने से स्वाभाविक हो उनके सद्गुणों के तुम सहभागी होते हो। तुम्हारा आन्तरिक जीवन परिवर्तित होने लगता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण, बहुत सत्य है।

कोई कह सकता है, ईसा ने मानव के रूप में जन्म लिया था, बुद्ध का जन्म मनुष्य की तरह हुआ था। मैं उन्हें ईश्वर के आसन पर क्यों बिठाऊँ?

क्योंकि यह अधिक व्यावहारिक पद्धति है। यदि तुम ध्यान करना चाहते हो तो ईसा अथवा बुद्ध का चिन्तन पर्याप्त है। यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सहायक होगा। तुम्हें कुछ ठोस लाभ होगा। तुम ईसा अथवा बुद्ध जैसे बन जाओगे और तुम्हारा आध्यात्मिक जीवन विकसित होने लगेगा। यह पुस्तक से पढ़ने की बात नहीं है। यह एक ठोस, निश्चित तथ्य है। इससे निश्चित लाभ होता है।

अगर कोई यह न कर सके तो भी कोई हानि नहीं है। और भी उपाय हैं। सम्भव है तुम्हें कभी कोई आध्यात्मिक अनुभूति हुई हो, स्वप्न में किसी आध्यात्मिक भाव ने तुम्हें प्रभावित किया हो। यह तुमसे घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है। तुम कह सकते हो, "मुझे ईसा में श्रद्धा नहीं है; मुझे बुद्ध अथवा बहुत पुरातनकाल के किसी पैगम्बर में रुचि नहीं है।" यह ठीक है लेकिन स्वप्नकालीन किसी अनुभूति ने तुम्हें उदात्त किया हो, जिसने तुम्हें आध्यात्मिक आनन्द प्रदान किया हो तो वह तुम्हारी अत्यन्त आत्मीय वस्तु है। उन भावों का चिन्तन करो। उन्हें अपने ध्यान का विषय बनाओ। ये बातें भी तुम्हें कुछ ठोस विषय प्रदान करेंगी।

अगर ऐसा स्वप्न देखने का तुम्हारा सौभाग्य न हुआ हो तो कोई बात नहीं; प्राकृतिक दृश्य जैसे किसी भी विषय का ध्यान करो जो तुम्हें उदात्तीकृत लगे। कभी किसी अत्यन्त सुन्दर प्राकृतिक दृश्य के सम्मुखीन होने पर तुम्हारा मन शान्त हो जाता है और कुछ आध्यात्मिक उदात्तता की अनुभूति होती है। अवश्य, यह व्यक्ति के स्वभाव पर निर्भर करता है। सभी की प्रकृति उस प्रकार की न भी होवे परन्तु प्रत्येक प्रकृति वाले व्यक्ति को कोई न कोई बात ऊपर उठाने वाली अवश्य मिल जाएगी। तो ऐसी परिस्थिति का लाभ उठाओ। उन भावों का ध्यान करो। यदि तुम किसी व्यापक विशाल मैदान अथवा सागर के समीप होओ तो वह सागर अनन्त का प्रतीक बन सकता है। उसका चिन्तन करो। केवल सागर तट पर ही नहीं, उस विचार को घर पर ले आओ, सदा अपने साथ रखो। सागर तट पर, सागर के सम्मुखीन रहते हुए असीम जलराशि का गहरा चिन्तन करो, इतना गहरा

कि वह तुम्हारे मन पर एक गहरी छाप छोड़ दे जिससे तुम उस विचार को सागर के दूर जाने पर भी अपने साथ ले जा सको। ये विचार ध्यान के विषय हो सकते हैं तथा ये ठोस विषय हैं। ऐसा प्रत्येक विषय तुम्हारा सहायक होगा अथवा ध्यान में कुछ न कुछ सहायता करेगा।

ये ध्यान के विषय हैं। लेकिन मैं पुन: कह दूँ कि दो बातें आवश्यक हैं : तुम्हें पता होना चाहिए कि तुम्हारी प्रकृति के अनुरूप तुम्हारे ध्यान का विषय क्या है और तुम्हारी ध्यान में रुचि होनी चाहिए। ध्यान में रुचि के बिना कुछ भी लाभ नहीं होगा। मैं तो कहूँगा कि आध्यात्मिक जीवन में रुचि होना सबसे आवश्यक है, अन्यथा तुम कुछ समय तक करने के बाद उसे छोड़ दोगे। तुम कहोगे, "उसमें कुछ नहीं है, मैंने पूरे दो या तीन वर्ष तक साधना की, मुझे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। और मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि उसमें कुछ भी नहीं है।" वस्तुत: तुम उसके अधिकारी नहीं थे। तुम्हें आध्यात्मिक जीवन में कोई रुचि नहीं थी और इसीलिए तुम कुछ भी प्राप्त नहीं कर सके। यह उचित ही है कि तुम्हें कुछ नहीं मिले। लेकिन यह कहना कि आध्यात्मिक जीवन में कुछ नहीं है, अस्वाभाविक और अनुचित है।

आध्यात्मिक अभिरुचि के लक्षण क्या हैं? लक्षण यह है कि तुम्हारे जीवन का नैतिक स्तर सामान्य लोगों से ऊँचा है। सामान्य लोग धर्म अथवा आध्यात्मिक बातों में रुचि नहीं रखते लेकिन तुमने कुछ नैतिक मूल्यों को परिपुष्ट किया है। ये तुम्हारी आध्यात्मिक रुचि का लक्षण है। तुम्हें स्वाभाविक ही सत्य से प्रेम है। भले ही इस समय तुम्हारी निश्चित धार्मिक मान्यता न हो एवं तुम किसी धर्म-सम्प्रदाय विशेष के सदस्य हो या न हो लेकिन यदि तुममें सत्य के प्रति प्रेम है तो यह बताता है की तुम आध्यात्मिक गुणसम्पन्न हो। कुछ लोगों में जन्म से ही सत्य के प्रति स्वाभाविक प्रेम होता है और वे असत्य से घृणा करते हैं। कहा गया है कि सत्यनिष्ठ होने मात्र से तुम चरम सत्य का साक्षात्कार कर सकते हो।

तुममें किसी के प्रति विद्वेष नहीं होगा; सबके प्रति – केवल सज्जनों

के प्रति ही नहीं अपितु दुष्ट और घृणास्पद लोगों के प्रति – भी प्रेम होगा। कम से कम सबके प्रति तुममें कुछ सहानुभूति होगी। ऐसा नहीं कि इन सद्गुणों का तुममें पूर्ण विकास हो चुका है परन्तु तुम बुरे विचारों, बुरे आचरण के विपरीत शुभ विचारों के प्रसार की आवश्यकता महसूस करते हो। तुम यह आवश्यक समझते हो, इसकी उपयोगिता जानते हो। तात्पर्य यह कि सभी के प्रति प्रेम होना चाहिए।

हाँ, प्रारम्भ में, यही नहीं आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में विरोध एवं बाधाएँ अन्दर से उत्पन्न होती हैं। लेकिन तुम इन पर काबू पाने का प्रयत्न करोगे। जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण होना तथा कोई सांसारिक आकांक्षा न होना आध्यात्मिक झुकाव के लक्षण हैं।

सांसारिक कर्तव्यों का पालन अच्छा है। यह आध्यात्मिक प्रगति के लिए भी आवश्यक है। अब जब कि तुम्हें थोड़ी बहुत आध्यात्मिक रुचि पैदा हुई है तो तुम यह नहीं कह सकते "यह सांसारिक कर्तव्य पालन अर्थहीन है।" यह सच्ची धार्मिक मनोवृत्ति नहीं है। तुम्हें अपने कर्तव्यों का पालन समग्रता एवं धार्मिक श्रद्धा के साथ करना चाहिए परन्तु कोई सांसारिक कामना नहीं होनी चाहिए। देखो, यह कितना सत्य है। सांसारिक कामना के रहते आध्यात्मिक विकास की कामना नहीं हो सकती। दोनों एक साथ नहीं हो सकते। यदि आध्यात्मिक प्रगति चाहते हो तो पूरा मन उसमें लगाना पड़ेगा। अपने सांसारिक कर्तव्यों का पालन एक सामान्य व्यक्ति की तरह करो जो सांसारिक विषयों में पूरी तरह आसक्त है। ऊपर से देखने में ऐसा लगे मानो तुम यह कार्य कितनी लगन, दृढ़ता और अध्यवसाय के साथ कर रहे हो लेकिन तुम्हें सांसारिक कामना नहीं होनी चाहिए। तुम्हारा वाञ्छित धन तो कहीं ओर (भगवान्) है। यह तुम्हारी आध्यात्मिक रुचि का लक्षण है।

तात्पर्य यह कि ये संकेत हैं तुम्हारी आध्यात्मिक जीवन में रुचि के। साथ ही तुम्हें आध्यात्मिक जीवन को गम्भीरतापूर्वक वरण करना चाहिए। अन्यथा तुम अपने क्रियाकलापों में लापरवाही बरतोगे। यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसे में कोई फल नहीं होगा। उल्टे हानि की आशंका है।

अच्छा ध्यान, प्रार्थना से किस माने में भिन्न है? मेरा कथन यह है कि तुम किसी वस्तु के लिए, स्वास्थ्य के लिए, सांसारिक वस्तु के लिए, भक्ति तक के लिए प्रार्थना कर सकते हो। लेकिन ध्यान का अर्थ है, मन की अन्वेषक दृष्टि को मन की ओर ही मोड़ देना, अपने विचारों को अन्तर्मुखी बनाना। प्रार्थना में तुम आसमान की ओर, ऊपर की ओर देखते हो क्योंकि ईश्वर ऊपर है। ध्यान में तुम आँखें बन्द करके अपने मन की दृष्टि अपने भीतर की ओर करते हो। वास्तविक ध्यान में मन भटकता नहीं, उसमें मन एकाग्र हो जाता है। अत: जैसा मैंने कहा ध्यान के लिए तुम्हारा एक विषय होना चाहिए। उसकी सहायता से तुम मन को एकाग्र करोगे। और यह आश्चर्य का विषय है कि यदि तुम किसी भी विषय पर मन को एकाग्र कर सको तो तुम आध्यात्मिक सत्य का साक्षात्कार कर लोगे क्योंकि ध्यान का उद्देश्य मन को एकाग्र करना है।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक भाषण में कहा है – और मुझे आश्चर्य होता है कि वे कितने साहसी थे कि इस प्रकार का प्रयोग कर सकते थे – "एक समय मैं एक काले बिन्दु पर ध्यान करने लगा। किसी विषय, देवी-देवता, ईश्वर अथवा किसी धार्मिक भाव पर नहीं। मैंने एक काले बिन्दु पर ध्यान करना प्रारम्भ किया था।" जरा सोचो तो, उनके पास अद्भुत मानसिक शक्ति थी। वे प्रयोग कर सकते थे और अच्छा हुआ कि उन्होंने इस प्रकार प्रयोग किया क्योंकि वे अपने अनुभव को पीछे छोड़ गये हैं। ऐसे ध्यान से क्या हुआ?

उन्होंने कहा, "बाद में मन एकाग्र हो गया और मैं भूल गया कि मैं एक काले बिन्दु पर ध्यान कर रहा हूँ। मुझे ऐसा लगा मानों मैं एक भावसागर में हूँ। मैं सब कुछ भूल गया। मैं ध्यान के विषय उस काले बिन्दु को तथा स्वयं को भी भूल गया। मुझे अनुभव हुआ कि मैं एक विचार-सागर में हूँ और मैं आध्यात्मिक सत्यों का अनुभव करने लगा।" यह सबसे महत्त्वपूर्ण बात है। मैं अतीन्द्रिय आध्यात्मिक सत्यों का अनुभव करने लगा।

यह वाक्य सबसे महत्त्वपूर्ण है। घटना यह हुई : ज्यों ही मन शान्त

और तूष्णी होने लगा, आध्यात्मिक सत्य उसकी सतह पर उभरने लगे। काले बिन्दु पर भी ध्यान करने पर जब मन शान्त हुआ या होने लगा, तब वे उस काले बिन्दु को भी भूल गये जिस पर वे ध्यान कर रहे थे और आध्यात्मिक सत्यों का अनुभव करने लगे।

अवश्य, सामान्य लोगों के लिए ध्यान का विषय ऐसा होना चाहिए जिस पर आध्यात्मिक उन्नति के लिए मन को एकाग्र किया जा सके। स्वाभाविक ही हम किसी देवी, देवता, सन्त महापुरुष का ध्यान करना चाहते हैं। अतएव भारत में असंख्य देवी-देवता हैं जिन पर ध्यान किया जा सकता है तथा इतनी विविधता का लाभ भी है। जो चाहो, जिस देवी अथवा देवता में रुचि हो, उसे चुन लो और उसका ध्यान करो। ध्यान का यह मनोविज्ञान है : इतने सारे देवी-देवताओं के द्वारा सभी लोगों को चुनाव हेतु विविधता प्रदान करना। ऐसे ध्यान से लोगों को लाभ होता है, उनका मन उन्नत होता है, उन्हें आध्यात्मिक उन्नति की अनुभूति होती है।

देखो, ध्यान का, मन की एकाग्रता का वास्तविक उद्देश्य है आध्यात्मिक सत्य प्राप्त करना। पतञ्जलि ने कहा है, "अगर तुम मन की क्रिया को रोक सको (अर्थात् तुम थोड़े समय के लिए ही सही मन को भटकने से रोक सको) तो तुम्हें उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति होगी।" मन सदा भटकता रहता है। यदि तुम किसी उपाय से उसका भटकाव रोक सको, उसे एकाग्र कर सको – बिना किसी भी प्रार्थना के, बिना आध्यात्मिक रुचि के भी यदि तुम ऐसा कर सको – तो तुम्हें उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति होगी। मैंने कहा कि आध्यात्मिक रुचि के बिना भी, लेकिन सामान्यत: तुम इस तरह मन को एकाग्र नहीं कर पाओगे। यदि तुम ऐसा कर सको तो यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि तुम्हें उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति होगी क्योंकि मन स्थिर हो गया है तथा उसकी क्रियाशीलता रुक गयी है।

इस विचार से कि मन काम करना बन्द कर देता है, चौंको या घबराओ मत। हमारा मन सही तरीके से काम नहीं करता, वह केवल भटकता रहता है। हम अपने मन के स्वामी नहीं होते। उल्टे हम उसके दास होते हैं। जब

मन काम करना बन्द कर देता है तब तुम अपने मन के स्वामी बन जाते हो, तुम मन को नियन्त्रित कर लेते हो, लगाम तुम्हारे हाथ में आ जाती है और तुम मन को काबू में रखते हो और मन एकाग्र हो जाता है। अगर एक बार ऐसा कर सको तो मन पूरी तरह तुम्हारे काबू में आ जाएगा। यह सच्चा ध्यान है। यही ध्यान का प्रयोजन है।

अच्छा, इन बातों से क्या लाभ है? इस विषय में प्राप्त संकेतों का हमारे व्यावहारिक जीवन में हम क्या उपयोग कर सकते हैं? यह अच्छी तरह जानते हुए कि हम संसारी और संसार के हैं, ध्यान की सहायता से हम अपने आध्यात्मिक जीवन का विकास कैसे कर सकते है? हममें दुर्बलताएँ हैं, कमजोरियाँ है, मन पर हमारा नियंत्रण नहीं है। लेकिन हमें इसी स्थिति से प्रारम्भ करना चाहिए। जैसा मैंने कहा, सर्वप्रथम तुम्हें आध्यात्मिक रुचि बढ़ाना चाहिए। यदि तुममें वे सद्गुण नहीं हैं जिनकी मैंने चर्चा की है लेकिन यदि तुममें किञ्चित मात्र भी आध्यात्मिक अभिरुचि है, आध्यात्मिक पिपासा है तो उन सद्गुणों का ध्यानपूर्वक, प्रयत्नपूर्वक विकास करने का प्रयास करो। यदि कोई सत्य को भुलाने वाली सांसारिक लाभदायी वृत्ति मन में उदित हो तो अपने आप को थोड़ा भय दिखाओ। तुमको सांसारिक लाभ होगा लेकिन उतनी ही मात्रा में तुम आध्यात्मिक विकास से दूर चले जाओगे। कम से कम इतना कहकर प्रतिवाद करो कि यह उचित नहीं है। इस प्रकार नैतिक सद्गुणों को विकसित करने का प्रयत्न करो। और नैतिक सद्गुणों का विकास करने पर तुम्हारे लिए आध्यात्मिक अभिरुचि पैदा करना आसान होगा अथवा नैतिक सद्गुणों के विकास के परिणाम स्वरूप आध्यात्मिक अभिरुचि आएगी।

ध्यान के क्रियात्मक पक्ष में जो पहली बात आवश्यक है वह यह है कि तुममें शान्तिपूर्वक पर्याप्त लम्बे समय तक बैठे रहने की क्षमता होनी चाहिए। तुम्हें अपने चञ्चल मन से इतने समय तक संघर्ष करना होगा जितने समय में वह थक कर शान्त नहीं हो जाता और इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि तुम लम्बे समय तक शान्ति से बैठे रह सको। आधुनिक

सभ्यता के व्यस्त जीवन में कुछ क्षणों के लिए भी शान्त रहना अत्यन्त कठिन हो गया है। हम चञ्चल हो जाते हैं। लेकिन शान्त रहने की आदत डालो; प्रयत्नपूर्वक शान्ति से चुपचाप बैठने की आदत डालो।

सदा पुस्तकों का उपयोग मत करो। हम शान्त होते ही तत्काल कोई पुस्तक या समाचार पत्र ले लेते हैं या रेडियो सुनना अथवा टेलीविजन देखना शुरु कर देते हैं। इसके बजाय बिना किसी बाह्य सहायता के शान्त होने का प्रयत्न करो। किसी सुन्दर दृश्य को देखने पर शान्त होकर उस दृश्य से कुछ आध्यात्मिक प्रेरणा ग्रहण करने का प्रयत्न करो। किसी विशाल मैदान में शान्तिपूर्वक बैठो; ऐसे स्थान में तुम बड़ी आसानी से ध्यान कर सकोगे क्योंकि परिवेश आध्यात्मिक चिन्तन के अत्यन्त अनुकूल है। इसका प्रयास किया जा सकता है। जब कभी अवसर मिले, आध्यात्मिक दृष्टि से सहायक परिवेश प्राप्त हो, तो कम से कम कुछ समय के लिए शान्ति से बैठे रहो और केवल देखो कि उस परिवेश से तुम क्या प्राप्त कर रहे हो। इससे तुम्हें शान्त बैठने में सहायता मिलेगी।

यदि चाहें तो कुछ लोग प्रतिदिन कुछ समय शान्ति से बैठने का प्रयत्न कर सकते हैं। इससे मन प्रशिक्षित होगा। अन्यथा यदि तुम किसी योगी से केवल कुछ आसन अथवा कोई शारीरिक व्यायाम सीख लो तो उससे तुम्हारा स्वास्थ्य भले ही सुधरे या न भी सुधरे, तुम्हें आध्यात्मिक जीवन में कोई लाभ नहीं होगा। आध्यात्मिक जीवन में शान्ति से किसी आध्यात्मिक भाव को धारण कर बैठा जाता है या बैठने का प्रयत्न किया जाता है। उस आसन में बैठकर किसी आध्यात्मिक दृष्टिकोण के पोषण का, कोई आध्यात्मिक चिन्तन करने का प्रयत्न करो। इससे मन का प्रशिक्षण होगा। अत: ध्यान विषयक प्रामाणिक पुस्तक पातञ्जल योगसूत्र में कहा गया है कि तुम्हें एक आसन में पर्याप्त लम्बे समय तक स्थिर बैठने में समर्थ होना चाहिए और तब नियमित ध्यान का प्रयत्न करना चाहिए।

नियमित ध्यान का क्या अर्थ है? विचारों को सामान्य चिन्तन के क्षेत्र से हटाकर किसी ध्यान के विषय में लगाने का प्रयत्न करना। अपने विचारों

को थोड़ा संजोकर ध्यान के विषय-विशेष की ओर लगाने का प्रयत्न करो। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अपने विचारों को संजोना ध्यान के विषय के बिना कठिन होगा। ऐसा नहीं है कि लोग जानबूझकर अपने विचारों को संसार से हटाने का प्रयत्न करते हैं। वे अपने विचारों को ध्यान के किसी एक विषय की ओर मोड़ने की चेष्टा करते हैं और उस विषय में रुचि होने पर यह कार्य आसान हो जाता है। इस प्रकार तुम्हें बार बार प्रयत्न करना होगा।

प्रारम्भ में ही तुम्हें सफलता नहीं मिलेगी। तुम्हें दीर्घ काल तक संघर्ष करना होगा लेकिन तुम आध्यात्मिक प्रगति करना चाहते हो तो तुम्हें उसकी कीमत चुकाने के लिए तैयार होना चाहिए। सत्य ही तुम्हें अनिश्चितकाल तक प्रतीक्षा करनी होगी। लेकिन सच्ची और तीव्र अभिरुचि होने पर तुम्हें प्रतीक्षा करने में कोई आपत्ति नहीं होगी। किसी महान खजाने के लिए प्रतीक्षा उचित ही है। इससे तुम्हारी परीक्षा भी हो जाती है कि तुम्हारी रुची सच्ची है या नहीं। तुम यह नहीं कह सकते, "मैं दो या तीन साल तक प्रतीक्षा करूँगा। तब तक परिणाम नहीं मिलने पर मैं साधना त्याग दूँगा।" तुम्हें प्रयास त्यागने की पूरी छूट है लेकिन ध्याननिष्ठ जीवन गठन का तथा आध्यात्मिक प्रगति का यह तरीका नहीं है।

यह समस्या अनादिकाल से चली आ रही समस्या है। गीता में यही बात, यही विशिष्ट प्रश्न मानो हम लोगों की ओर से अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा था, "आप ध्यान करने को कहते हैं लेकिन यह (मन को नियंत्रित करना) तो मुझे वेग से प्रवाहित हो रही वायु को रोकने के समान कठिन प्रतीत होता है।" यह हम सब की एक सामान्य समस्या है।

लेकिन श्रीकृष्ण ने अर्जुन को क्या निर्देश दिये? केवल दो उपाय हैं। तुम्हें चाहिए निरन्तर अभ्यास, दृढ़ अभ्यास, और उन वस्तुओं के प्रति वैराग्य जो आध्यात्मिक नहीं हैं। यह बहुत सत्य है। अभ्यास द्वारा तुम मन को नियंत्रित करने की क्षमता अर्जित करोगे। साथ ही उन वस्तुओं के प्रति वैराग्य की भावना रखो जो आध्यात्मिक दृष्टि से लाभकर नहीं हैं। ये ही दो उपाय हैं। ये संकेत हैं। अगर तुम्हें निराशा हो रही हो, ऐसा लगे कि

तुम सफल नहीं होगे, तुम इतने अभागे हो कि प्रगति नहीं कर सकते, तो भी जानो कि ये ही दो उपाय हैं।

यदि तुम प्रतीक्षा करने के लिए तैयार हो तो यह सम्भव है कि फल शीघ्र प्राप्त हो जाय। यदि तुम ध्यान के समय धैर्य खो बैठो और ध्यान के विषय पर मन को एकाग्र करने के बदले यह सोचने लगो, "इस तरह से तो मुझे कोई फल नहीं मिल रहा है", तो ऐसा करने से तुम अपनी धैर्यहीन मन:स्थिति पर अपने मन को एकाग्र करोगे और इससे तुम आध्यात्मिक विकास से अधिकाधिक दूर होते जाओगे। अत: अभ्यास ही एकमात्र उपाय है।

और ध्यान के विषय-विशेष पर मन को एकाग्र करने से क्या होता है? हाँ, सर्वप्रथम मन ध्यान के विषय पर एकाग्र हो जाता है और तुम अनुभव करते हो कि मन का भटकाव बन्द हो गया है तथा तुम्हारा मन एकाग्र हो गया है। लेकिन इस स्थिति में भी, देखो, तुम्हें दो विषयों का अनुभव होगा : एक तो यह कि तुम ध्यान कर रहे हो और दूसरा ध्यान का विषय। लेकिन उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति के लिए यह भेद भी चला जाना चाहिए। और यदि तुम ध्यान और एकाग्रता का अभ्यास करते रहो तो एक समय आएगा जब तुम यह भूल जाओगे कि ध्यान का एक विषय है और तुम ध्यान कर रहे हो। तुम चरम सत्ता के साथ एक हो जाओगे; तुम्हारे विचार बाह्य और दृश्यमान अस्तित्वका, सारे वर्तमान जगत् का, सभी भौतिक वस्तुओं का, भेदन कर उनके पीछे विद्यमान गहनतर सत्ता तक पहुँच जाएँगे। सभी पदार्थों के पीछे एक सारतत्त्व विद्यमान है।

अत: स्वामी विवेकानन्द ने कहा, "यदि तुम किसी भी विषय पर मन को एकाग्र कर सको तो तुम सत्ता के सारतत्त्व तक पहुँच जाओगे।" ध्यान के विषय पर ध्यान करते करते जब बहुत गहरी एकाग्रता प्राप्त होती है तब तुम ध्यान के विषय के साथ एकाकार हो जाते हो याने परम सत्ता के साथ एक हो जाते हो। इसका तात्पर्य है अतीन्द्रिय अवस्था, उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति की उपलब्धि। ध्यान में मन अन्तरात्मा में विलीन हो

गया है और तुम्हें यह अनुभूति हुई है कि तुम अन्तरात्मा हो। अन्तरात्मा होने पर तुम न तो सोचते हो और न ही ध्यान करते हो। परमात्मा हमारी तरह सोचता नहीं; वह स्वयं विचार है। उसे चिन्तन की, ध्यान रूपी यन्त्र की सहायता नहीं लेनी पड़ती। वह स्वयं विचार बन गया है। इसी प्रकार ध्यान के पर्याप्त मात्रा में गहरे होने पर तुम सत्ता के सारतत्त्व में प्रवेश कर जाते हो, तुम परम सत्य के साथ एक हो जाते हो। यही परमानन्द है। यही सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति है।

ईश्वर अथवा किसी स्थूल पदार्थ पर ध्यान करने पर भी यही होता है। अब हम यह देखने का प्रयत्न करें कि बुद्ध पर ध्यान करने से क्या होता है। मैंने बुद्ध का दृष्टान्त इसलिए चुना है क्योंकि बुद्ध सदा ध्यान की मुद्रा में रहते हैं; बुद्ध का ध्यान के साथ अत्यधिक तादात्म्य है। बुद्ध का ध्यान करने पर क्या होगा? जैसा मैंने कहा है, पहले मन भटकेगा। उसके बाद तुम्हारा मन बुद्ध के विचारों से पूर्ण हो जाएगा। हाँ, इस अवस्था में तुम्हें बहुत आनन्द प्राप्त होगा क्योंकि तुम्हारा मन सांसारिक विचारों से रहित हो गया है और तुम बुद्ध के भाव से पूर्ण हो गये हो। उन विचारों से नहीं, जिनका बुद्ध ने उपदेश दिया है बल्कि उस भाव से पूर्ण जिसके कि बुद्ध घनीभूत विग्रह थे। तुम मानो बुद्ध के भाव के घनीभूत विग्रह हो जाओगे, जिससे तुम्हें अतीव आनन्द और शान्ति प्राप्त होगी।

लेकिन यह भी चरम अवस्था नहीं है। तुम ध्यान करते जाते हो। बाद में तुम अपने आपको भूल जाओगे; तुम भूल जाओगे कि तुम बुद्ध पर ध्यान कर रहे हो। तुम सार सत्ता को प्राप्त होगे। तुम्हें ज्ञानालोक प्राप्त होगा अथवा तुम ज्ञान के साथ एक हो जाओगे। तब तुम बुद्ध के समान एक क्षण में जगत् की पहेली सुलझा लोगे। तुम जान जाओगे कि जगत् क्या है, जीवन क्या है और मृत्यु का क्या अर्थ है। परम सत्ता के साथ एकरूप होने के कारण तुम क्षण भर में अस्तित्व का रहस्य समझ लोगे। यही ध्यान का मार्ग है, यही ध्यान का लक्ष्य है।

प्रार्थना में भी, इस भाव से प्रारम्भ करने पर भी कि तुम ईश्वर से

किसी वस्तु की याचना कर रहे हो, तुम इन अवस्थाओं से गुजरते हो। लेकिन ज्यों ज्यों तुम्हारी एकाग्रता बढ़ती जाती है – और प्रार्थना मे भी एकाग्रता की वृद्धि होती है – तुम इन अवस्थाओं से गुजरते हुए, बाद में ईश्वर के साथ एक हो जाते हो। जैसा कि ईसा ने कहा है, "मैं और मेरे पिता एक हैं।" चाहे किसी भी मार्ग से व्यक्ति अग्रसर हो, वह इन अवस्थाओं से गुजरता है। अत: ध्यान महत्त्वपूर्ण है।

एक उपनिषद् में बड़े सुन्दर शब्दों में कहा गया है : "यदि तुम शान्त बैठकर विश्व का अवलोकन करो तो तुम्हें अनुभव होगा मानो विश्व ध्यान कर रहा है।" यदि तुम शान्त बैठो; न्यूयार्क जैसी नगरी में भी शान्त बैठकर लोगों की गतिविधियाँ देखो कि वे कैसे द्रुतगतिशील हैं तो तुम यह अनुभव कर पाओगे कि इस सतही क्रियाशीलता के पीछे एक ध्यानमय शान्ति है। विश्व मानो ध्यान कर रहा है। आकाश को देखो। उपनिषद् में कहा गया है, "आकाश को देखो। तुम्हें लगेगा मानो आकाश ध्यान कर रहा है। जलराशि को देखो, विशाल जलराशि को, तुम्हें लगेगा मानो सागर ध्यान कर रहा है।"

पर्वतों को देखो, किन्तु पिकनिक के लिए मत दौड़ पड़ो। केवल पर्वतीय दृश्य देखो। तुम्हें अनुभव होगा मानो उन पर्वतों के पीछे एक प्रशान्ति है। भारत में लोग पर्वतों पर ध्यान हेतु जाते हैं और उन्हें उस वातावरण से प्रेरणास्पद सहायता प्राप्त होती है।

इसी प्रकार मानव की बाह्य गतिविधियों के पीछे एक शान्ति, एक तूष्णी प्रशान्ति विद्यमान है और ऐसा कहा जाता है कि जिन्होंने अपने आध्यात्मिक जीवन का विकास किया, जो आध्यात्मिक दृष्टि से महान् हुए, वे ध्यान के द्वारा महान् हुए। सामान्य लोग अपना समय गप्पों, विवादों, झगड़ों, परदोष दर्शन आदि में गँवाते हैं। मैं यहाँ उपनिषदों से उद्धरण कर रहा हूँ जो बड़े सुन्दर ढंग से इसे व्यक्त करते हैं।

ध्यान करने वाले लोग अपने जीवन को महान्, आध्यात्मिक दृष्टि से समृद्ध बनाते हैं। उपनिषद् कहते हैं, "अत: ध्यानाभ्यास करो।" यह चरम

उपदेश है। उपनिषद् अपने किसी उपदेश, सुन्दर उपदेश की समाप्ति करते हुए कहते हैं "निदिध्यासितव्य:" - अत: ध्यान करो। यह अन्तिम उपदेश है।

जिससे समग्र विश्व की उत्पत्ति हुई है,
जो हमारे देह और मन का स्रष्टा है,
उसे और केवल उसी को जानने की चेष्टा करो,
यही आनन्द का, अमृतत्व का मार्ग है।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

□□□

ध्यान-निर्देश

सामूहिक ध्यान के लिए स्वामी घनानन्द द्वारा संकलित

ब्रह्मानंदं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरूं तं नमामः।।

– हम उन सद्गुरु को प्रणाम करते हैं जो ब्रह्मानन्दस्वरूप, परमसुखमय, केवल और ज्ञानघनमूर्ति हैं; जो शीतोष्ण, सुखदुःख, जन्म-मृत्यु आदि द्वन्द्वों से परे हैं; जो गगन के समान पवित्र और निर्विकार हैं; जिन्हें 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों द्वारा जाना जाता है; जो एक अद्वितीय, नित्य, विमल और अचल हैं; जो समस्त बुद्धि वृत्तियों के साक्षी हैं; जो मन के परे हैं तथा जो गुणातीत हैं।

तदेकं स्मरामस्तदेकं भजाम-
स्तदेकं जगत्साक्षिरूपं नमामः।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं
भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः।।

– हम उसी का स्मरण करते हैं, उसी को भजते हैं; उसी जगत् के साक्षी रूप को नमन करते हैं। उस एकमात्र सदाश्रय आलम्बनरहित ईश्वर की हम शरण में जाते हैं जो भवसागर पार करने हेतु पोतस्वरूप हैं।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयिधेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि।

– हे प्रभु! तुम तेजस्वरूप हो, हमें तेज प्रदान करो। तुम वीर्य हो, हमें वीर्य प्रदान करो। तुम बल हो, हमें बल प्रदान करो। तुम ओज हो, हमें ओज प्रदान करो। तुम मन्यु (साहस) हो, हमें साहस प्रदान करो। तुम सहनशक्ति हो, हमें सहनशक्ति प्रदान करो।

आत्मा मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासम्।।
अन्तरात्मा मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासम्।।
परमात्मा मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासम्।।

हमारी देह शुद्ध हो। हम पाप और मल रहित हों और अपने ज्योतिर्मय स्वरूप का साक्षात्कार करें।

हमारे मन शुद्ध हों। हम पाप और मल रहित हों और अपने ज्योतिर्मय स्वरूप का साक्षात्कार करें।

हमारी आत्माएँ शुद्ध हों। हम पाप और मल रहित हों और अपने ज्योतिर्मय स्वरूप का साक्षात्कार करें।

असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्माऽमृतं गमय।

असत्य से मुझे सत्य उन्मुख कर प्रभो!
और तम से ज्योति सम्मुख धर विभो!
अमरता की ओर मेरा प्रयाण हो,
मृत्यु से हे ईश! मेरा त्राण हो।

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वे भद्राणि पश्यतु।
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु।।

दुर्गति से छूटें सभी लेवें शुभ को चीन्ह।
सद्बुद्धि सम्पन्न हों सभी सदा सुखलीन।।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्।।

सभी सुखी होवें सदा होवें सभी निरोग।
सबका ही कल्याण हो किसी को न दुःख भोग।।

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत्।।

दुर्जन सब सज्जन बनें सज्जन शांति अधीन।
शांत बंध से मुक्त, मुक्त हों मुक्तिदान प्रवीण।।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

□□□

परिशिष्ट

लेखकों का परिचय

स्वामी आदीश्वरानन्द न्यूयार्क स्थित रामकृष्ण-विवेकानन्द केन्द्र के प्रमुख हैं। इनका जन्म पश्चिम बंगाल में हुआ था तथा इन्होंने रामकृष्ण संघ में सन् १९५४ में प्रवेश किया। सन् १९६८ में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका भेजे जाने के पूर्व वे संघ की अंग्रेजी मासिक पत्रिका "प्रबुद्ध भारत" के सहसम्पादक रहे तथा उसके भी पूर्व उन्होंने संघ के एक विद्यालय में सेवा प्रदान की।

स्वामी अशोकानन्द (१८८३-१९६८) का जन्म वर्तमान बंगला देश में हुआ तथा वहीं उनकी शिक्षा सम्पन्न हुई। उसके बाद कुछ समय के लिये इन्होंने शिक्षक का कार्य किया। इस दौरान इन्होंने स्वामी विवेकानन्द के "शिव ज्ञान से जीव सेवा" के सिद्धान्त को मोचियों की एक बस्ती में चरितार्थ करने का प्रयत्न किया। सन १९२० में इन्होंने रामकृष्ण संघ में प्रवेश किया और १९३२ में सेनफ्रान्सिस्को भेजे जाने के पूर्व मुख्यत: "प्रबुद्ध भारत" के सम्पादन का कार्य किया। सेनफ्रान्सिस्को में उत्तर केलिफोर्निया की वेदान्त सोसायटी के प्रमुख के रूप में इन्होंने उस मठ को पुनरूज्जीवित किया, एक कान्वेण्ट की स्थापना की और बर्कले तथा सेक्रोमेण्टो की वेदान्त सोसाइटियों का प्रारम्भ किया।

स्वामी भव्यानन्द (१९१७-१९९३) रामकृष्ण वेदान्त सेण्टर, बंकिमगधमशायर, के अध्यक्ष और प्रमुख तथा "वेदान्त फॉर ईस्ट एण्ड वेस्ट" पत्रिका के सम्पादक थे। इनका जन्म १९१७ में बैंगलोर में हुआ तथा इन्होंने सन् १९४२ में चिकित्साशास्त्र का अध्ययन करने के बाद रामकृष्ण संघ में प्रवेश किया। तदनन्तर सन् १९६९ में स्वामी घनानन्द

के सेवानिवृत्त होने पर इंग्लेण्ड में कार्यभार ग्रहण करने के पूर्व वे मिशन के कराँची, वृन्दावन और शिलांग केन्द्रों पर सेवारत रहे। स्वामी भव्यानन्द ने कई बार टेलीविजन पर अपने विचार व्यक्त किये तथा धर्म समन्वय आंदोलन के कार्यक्रमों में एक वक्ता के रूप में वे काफी लोकप्रिय हुए थे। कई ईसाई समुदायों के विद्यालयों और मठों में भी उन्हें प्राय: व्याख्यानों के लिये आमन्त्रित किया जाता था। जिन देशों में अभी रामकृष्ण संघ के संन्यासी नहीं हैं उनमें उनके अनुभवों का लाभ और सलाह प्राय: ली जाती थी। स्वामी भव्यानन्द ने अपने केन्द्र में अनेक शिविरों का आयोजन किया था जिसमें संघ के वरिष्ठ संन्यासी वक्ता के रूप में आमन्त्रित होते थे।

स्वामी घनानन्द (१८८८-१९६९) लन्दन के रामकृष्ण वेदान्त केन्द्र के संस्थापक अध्यक्ष थे। रामकृष्ण संघ के भारत, श्रीलंका, मारिशस और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका स्थित विभिन्न केन्द्रों में विभिन्न पदों पर सेवारत रहने के बाद उन्होंने लन्दन स्थित केन्द्र की स्थापना १९४८ में की। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका का भी दौरा किया था। उनका जन्म केरल के त्रिवेन्द्रम नगर में हुआ था। विद्यालयीन शिक्षा समाप्त करने के बाद उन्होंने सन् १९२० में रामकृष्ण संघ में प्रवेश किया। स्वामी घनानन्द ने इक्कीस वर्षों तक लन्दन, इंग्लेण्ड के विभिन्न प्रदेशों, तथा अनेक यूरोपीय देशों में धर्मशिक्षा प्रदान की। उन्होंने "वेदान्त फॉर ईस्ट एण्ड वेस्ट" नामक द्विमासिक पत्रिका प्रारम्भ की जिसके लिये उन्होंने अनेक लेख लिखे तथा तीन पुस्तकें प्रकाशित की। वेदान्त के अनेक साधकों के जीवन पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा।

स्वामी ज्ञानेश्वरानन्द शिकागो इलिन्योस की वेदान्त सोसायटी के संस्थापक प्रमुख थे। उनका व्यक्तित्व आकर्षक था। वे एक प्रभावशाली वक्ता थे और प्रेरणादायक गायक भी। उन्होंने बंगाली में भजनों की एक पुस्तक प्रकाशित की थी। उनका जन्म और लालन पालन वर्तमान बंगला देश में हुआ था। विद्यालय से स्नातक होने के बाद उन्होंने १९१७ में रामकृष्ण संघ में प्रवेश किया। वे संघ में कई क्षेत्रों में सेवारत रहे और १९२२ में पटना में एक केन्द्र स्थापित किया जहाँ उनके नि:स्वार्थ प्रेम ने जनमानस

को मोह लिया। न्यूयार्क की वेदान्त सोसाइटी में दो वर्षों तक सेवारत रहने के बाद वे शिकागो में केन्द्र स्थापित करने गये। वहाँ उन्होंने कई व्याख्यान दिये और प्रार्थना और ध्यान पर एक ग्रन्थ प्रकाशित किया। चवालीस वर्ष की अल्पायु में उनका देहावसान हो गया।

स्वामी नित्यबोधानन्द जिनेवा स्थित 'सेण्टर-वेदान्तिक' के लगभग तीस वर्षों तक अध्यक्ष रहे। उनका जन्म सन् १९१४ में केरल के त्रिचूर नगर में हुआ था। उन्होंने मद्रास विश्वविद्यालय से १९३४ में स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण की तथा १९४६ में संन्यास ग्रहण किया। इसके बाद वे "वेदान्त केसरी" के सह-सम्पादक और सम्पादक बने। १९४७ से १९५१ तक वे मिशन की रंगून शाखा में सेवारत रहे। तत्पश्चात् १९५१ से १९५७ तक आंध्रप्रदेश स्थित राजमूँदड़ी मठ के अध्यक्ष रहे। इसके बाद वे फ्रांस के ग्रेट्स नगर स्थित वेदान्त केन्द्र के सह-सचिव के रूप में दो वर्षों के लिये नियुक्त हुए। स्वामी नित्यबोधानन्द ने फ्रांसीसी भाषा मे छः तथा अंग्रेजी मे एक पुस्तके लिखी; साथ ही वे संघ की पत्रिकाओं में भी लेख देते रहते थे। वे फ्रान्सीसी भाषा में एक मासिक पत्रिका "कमेण्ट्रीज़ आन योग वेदान्त" के सम्पादक भी थे।

स्वामी पवित्रानन्द १९५१ से १९७७ तक अर्थात् अपने देहावसान तक न्यूयार्क की वेदान्त सोसायटी के प्रमुख रहे। वे स्वामी ब्रह्मानन्द के मन्त्रशिष्य थे तथा लगभग २४ वर्षों तक अद्वैत आश्रम मायावती तथा कलकत्ता स्थित उसकी प्रकाशन शाखा के साथ घनिष्ट रूप से और निरन्तर सम्बद्ध रहे थे। वे १९३१ से आगामी चार वर्षों तक "प्रबुद्ध भारत" के सम्पादक रहे तथा १९४७ में रामकृष्ण मठ के ट्रस्टी एवं रामकृष्ण मिशन की कार्यकारिणी के सदस्य नियुक्त हुए।

स्वामी ऋतजानन्द का जन्म १९०६ में दक्षिण भारत में हुआ था। उन्होंने सन् १९३१ में रामकृष्ण मिशन में प्रवेश किया और देवघर, कोलम्बो तथा मद्रास की शाखाओं में अपनी सेवाएँ प्रदान कीं। १९५४ में उन्हें संयुक्त राष्ट्र अमेरिका भेजा गया जहाँ वे न्यूयार्क के रामकृष्ण-विवेकानन्द केन्द्र तथा ..

हालीवुड की वेदान्त सोसायटी ऑफ सदर्न केलिफोर्निया में कार्यरत रहे। १९६१ में वे ग्रेट्स की वेदान्त सोसायटी के अध्यक्ष नियुक्त हुए। उन्होंने स्वामी तुरीयानन्द की एक प्रामाणिक जीवनी लिखी तथा संस्कृत से फ्रान्सीसी भाषा में भगवद्गीता का अनुवाद प्रकाशित किया। वे फ्रान्स तथा अन्य यूरोपीय देशों में एक वक्ता तथा आध्यात्मिक पथ प्रदर्शक के रूप में विख्यात थे।

स्वामी स्वाहानन्द : हालीवुड की वेदान्त सोसायटी आफ सदर्न केलिफोर्निया के प्रमुख हैं। इनका जन्म वर्तमान बंगला देश के सिल्हट नगर में सन् १९२१ में हुआ था। इन्होंने कलकत्ता में शिक्षा प्राप्त की तथा वे रामकृष्ण संघ मे सन् १९४७ में प्रविष्ट हुए। इन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय के अंतर्गत बेलुड़ मठ के विद्यालय के व्याख्याता के रूप में कार्य किया तथा मद्रास में "वेदान्त केसरी" के सम्पादक रहे। इन्होंने अनेक पुस्तकों का अनुवाद किया है तथा कई ग्रन्थों का प्रणयन किया है। वे रामकृष्ण मिशन की नई दिल्ली शाखा के प्रमुख रहे जिसके बाद सन् १९६८ में वे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका गये। सर्वप्रथम वे सेनफ्रान्सिस्को तथा बर्कले में रहे तत्पश्चात् सन् १९७६ में हालीवुड गये जहाँ उस केन्द्र द्वारा दो मठ, दो कान्वेण्ट तथा एक प्रकाशन केन्द्र चलाये जाते हैं।

हमारे अन्य प्रकाशन

स्वामी विवेकानंदकृत सम्पूर्ण साहित्य

योग

ज्ञानयोग
राजयोग (पातंजल योगसूत्र, सूत्रार्थ और व्याख्यासहित)
प्रेमयोग
कर्मयोग
भक्तियोग
ज्ञानयोग पर प्रवचन
सरल राजयोग

धर्म तथा अध्यात्म

धर्मविज्ञान
धर्मतत्त्व
धर्मरहस्य
हिन्दूधर्म
हिन्दूधर्म के पक्ष में
शिकागो वक्तृता
नारदभक्तिसूत्र एवं भक्तिविवेचन
भगवान श्रीकृष्ण और भगवद्गीता

भगवान बुद्ध तथा उनका सन्देश
देववाणी (उच्च आध्यात्मिक उपदेश)
विवेकलहरी (आध्यात्मिक अनुभूतिमय काव्य)
वेदान्त
व्यावहारिक जीवन में वेदान्त
आत्मतत्त्व
आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग
मरणोत्तर जीवन

जीवनी

महापुरुषों की जीवनगाथाएँ
मेरे गुरुदेव
ईशदूत ईसा
पवहारी बाबा

सम्भाषणात्मक

विवेकानन्दजी के संग में
स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप
विवेकानन्दजी के संस्मरण
विवेकानन्दजी के सान्निध्य में
विवेकवाणी (स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाएँ)

हम जानते हैं कि मन को संयत करना
कितना कठिन है। लेकिन
भगवन्नाम के निरन्तर जप से यह मनःसंयम
आसानी से हो जाता है।
मन नियंत्रित ही नहीं, वह शुद्ध भी होता है।
पवित्र मन के लिए ध्यान करना आसान होता है।
हम सदा ध्यान नहीं कर सकते
किन्तु सर्वत्र जप कर सकते हैं। दैनन्दिन जीवन और
कर्म में सभी को अनेक विक्षेपों
और निराशाओं का सामना करना पड़ता है।
जप, कुछ हद तक शान्ति और
सन्तुलन की पुनर्प्राप्ति का अद्भुत उपाय है।
साधना करके हम इस कथन की
सत्यता स्वयं जान सकते हैं।

(H-154) DHYAN : Rs. 40.00